

ज्ञानार्णव प्रवचन त्रयोदशं भाग

सहजानंद शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

त्रयोदशं भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'ज्ञानार्णव प्रवचन त्रयोदशं भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है। इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 2000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु कु. प्रतीक्षा जैन, गांधीनगर, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं। सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन#

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। जाता दृष्टा आत्मराम॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम॥
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

में दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥टेक॥

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०॥१॥

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥२॥

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥३॥

Table of Contents

प्रकाशकीय	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	4
श्लोक-1053.....	9
श्लोक-1054.....	11
श्लोक-1055.....	12
श्लोक-1056.....	12
श्लोक-1057.....	14
श्लोक-1058.....	14
श्लोक-1059.....	16
श्लोक-1060.....	17
श्लोक-1061.....	19
श्लोक-1062.....	20
श्लोक-1063.....	22
श्लोक-1064.....	25
श्लोक-1065.....	29
श्लोक-1066.....	29
श्लोक-1067.....	30
श्लोक-1068.....	31
श्लोक-1069.....	32
श्लोक-1070.....	33
श्लोक-1071.....	34
श्लोक-1072.....	36

श्लोक-1073.....	37
श्लोक-1074.....	38
श्लोक-1075.....	39
श्लोक-1076.....	40
श्लोक-1077.....	41
श्लोक-1078.....	42
श्लोक-1079.....	43
श्लोक-1080.....	44
श्लोक-1081.....	45
श्लोक-1082.....	46
श्लोक-1083.....	46
श्लोक-1084.....	47
श्लोक-1085.....	49
श्लोक-1086.....	50
श्लोक-1087.....	51
श्लोक-1088.....	52
श्लोक-1089.....	54
श्लोक-1090.....	55
श्लोक-1091.....	56
श्लोक-1092.....	59
श्लोक-1093.....	61
श्लोक-1094.....	62
श्लोक-1095.....	64
श्लोक-1096.....	67
श्लोक-1097.....	68
श्लोक-1098.....	69
श्लोक-1099.....	70

श्लोक-1100.....	71
श्लोक-1101,1102	73
श्लोक-1103.....	78
श्लोक-1104.....	79
श्लोक-1105.....	80
श्लोक-1106.....	81
श्लोक-1107.....	82
श्लोक-1108.....	83
श्लोक-1109.....	83
श्लोक-1110.....	84
श्लोक-1111.....	85
श्लोक-1112.....	87
श्लोक-1113.....	88
श्लोक-1114.....	89
श्लोक-1115.....	91
श्लोक-1116.....	92
श्लोक-1117.....	94
श्लोक-1118.....	96
श्लोक-1119.....	97
श्लोक-1120.....	98
श्लोक-1121.....	99
श्लोक-1122.....	99
श्लोक-1123.....	100
श्लोक-1124.....	101
श्लोक-1125.....	102
श्लोक-1130.....	104

श्लोक-1131.....	108
श्लोक-1132.....	109
श्लोक-1133.....	110
श्लोक-1134.....	111
श्लोक-1135.....	112
श्लोक-1136.....	113
श्लोक-1137.....	114
श्लोक-1138.....	115
श्लोक-1139.....	116

श्लोक-1053

तदेवं यदिह जगति शरीरविशेषसभवेतं किमपि सामर्थ्यमुपलभामहे तत्सकलमात्मन एवेति निश्चयः।
आत्मप्रवृत्तिपरम्परोत्पादितत्वाद्विग्रहग्रहणस्येति॥1053॥

शिवतत्त्व, गरुड़तत्त्व व आत्मतत्त्व के चिन्तन का चित्रण— जो लौकिक कल्याण के लिए शिवतत्त्व, गरुड़तत्त्व और कामतत्त्व के रूप में ध्यान करता है, शिवतत्त्व मायने एक परमात्मस्वरूप शिवरूप, गरुड़तत्त्व के मायने ऐसा गरुड़ विचारना जिसका मुँह तो गरुड़ की तरह है और शेष बदन मनुष्य की तरह है। जिसके पंखे गोड़ों तक लटक रहे हैं। जिसके मुँह में दो सर्प हैं, जो एक पीठ पर लटक रहा एक छाती पर लटक रहा ऐसे रूप में किसी गरुड़ का ध्यान करना ऐसा बताते हैं और कामतत्त्व में काम की बात काम विकार कामदेव का विश्लेषण करना रूपक बनाना यह सब है क्या? गरुड़ है सो भी जीव है, सर्प है सो भी जीव है, काम विकार है सो आत्मा का विकार है। यों ये सब आत्मा की ही तो परिस्थितियाँ हैं। ध्यान के योग्य तो आत्मा की सहज चैतन्यशक्ति है उस ही में यह सामर्थ्य है, जो कुछ दुनिया में चमत्कार दिखता है और अन्य-अन्य रूप में लोग ध्यान किया करते हैं। यह आत्मा जैसा शुभ अथवा अशुभ परिणाम करता है, अशुद्ध ध्यान बनाता है वैसे ही नाना प्रकार के यह शरीर रचता है और फिर उसकी जो चेष्टायें हैं वह सब आत्मा के लिए हुए परिणामों का फल है। अर्थात् सब कुछ दिखा ध्यान के लिए तो सब आत्मा का सामर्थ्य दिखा। स्कंधों में जो आजकल इतना आविष्कार परिणमन चल रहे हैं, रेडियो पंखे की बातें तो अब बिल्कुल साधारण हो गयी, घर-घर के लोग किसी न किसी रूप में रेडियो बना लेते हैं। 1॥) रु. के तार में केवल रेडियो बना लेते हैं चाहे कैसा ही सुनाई दे। यह तो बात पुरानी सी हो गयी। अब जैसे राकेट बेतार आदिक बड़े-बड़े जो आविष्कार हैं वे सब भी क्या हैं? यद्यपि इसमें भी स्कंधों की ही बात है। यह सब भी आत्मा का सामर्थ्य है, किसी आविष्कार में दिमाग की उपज है। दुनिया में जो कुछ दिखता है वह सब आत्मा का सामर्थ्य है।

शिव आदि के स्वरूप की आत्मरूपता— भैया ! सबको एक आत्मा के रूप में देखो। जिन शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि ये सब हैं क्या? एक आत्मा की ही तो स्थितियाँ हैं। इन नामों से प्रसिद्ध जो भी महापुरुष हुए हैं वे आत्मा ही तो थे। और सत्यार्थ की दृष्टि से देखो तो, जिनका अर्थ है जो इन्द्रिय को जीते, कर्मों को जीते, मोहादिक शत्रुओं को सो जीते सो जिन है। यह आत्मा की ही तो सामर्थ्य है, शिव का अर्थ है कल्याण। शिवस्वरूप। जो रागद्वेष रहित निर्विकार अवस्था है वही शिव है, यह भी आत्मा का ही तो एक चमत्कार है जब रागद्वेष विकार से रहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में ही मग्न होता है तब उसकी शिवमयी स्थिति

बनती है। ईश्वर जो अपने ऐश्वर्य से शोभित हो, ऐश्वर्य आत्मा में वह कहलाता कि जिसके अनुभव में किसी अन्य की आधीनता न लेनी पड़े। ऐश्वर्य आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त सुख ये सब आनन्द स्वभावरूप आत्मा में मौजूद हैं अतएव यह आत्मा ही तो ईश्वर है। ब्रह्म कहते हैं जो अपनी सृष्टियों को करता रहे, उन सृष्टियों का करने वाला यह आत्मा ही तो है। राम जिसमें योगीजन रमण किया करें, प्रसन्न रहा करें उस तत्त्व का नाम है राम। वह निज अंतस्तत्त्व ही तो है। यह आत्मा ही राम है। विष्णु उसे कहते हैं जो व्यापक हो, ऐसा व्यापक हो जिससे व्यापक अन्य कुछ न बन सके। ऐसा व्यापक विशुद्ध ज्ञान है, यह ज्ञान अत्यन्त विशुद्ध है और जो सूक्ष्म होता है वह अत्यन्त व्यापक बन सकता है, स्थूल चीज व्यापक नहीं बनती? उसकी हद होती है। जैसे पृथ्वी स्थूल है तो पृथ्वी से सूक्ष्म है जल, तो आप देख लो कि पृथ्वी से ज्यादा जल है। आज के लोग भी मानते हैं और जैन सिद्धान्त भी कहता है। स्वयंभूरमण समुद्र बराबर अन्य सब है, स्वयंभूरमण समुद्र का जितना घेर है उससे बहुत गुना कम यह सारा पृथ्वी मंडल है जल सूक्ष्म है तो वह पृथ्वी से ज्यादा है। जल से हवा सूक्ष्म है। तो पृथ्वी और जल का जितना घेर है उससे कई गुना घेर हवा का है जिस पर सब सधा हुआ है। हवा से सूक्ष्म है आकाश। तो जहाँ तक हवा पायी जाय वहाँ भी आकाश है। वह है लोकाकाश और, जहाँहवा नहीं है वहाँ भी आकाश है, वह है अलोकाकाश। आकाश से भी सूक्ष्म है ज्ञान। इस कारण यह ज्ञान इतना व्यापक है कि इस ज्ञान में सारा पृथ्वी मण्डल समाया है, इसमें लोकाकाश और अलोकाकाश भी समाया है और, फिर भी वह आकाश में एक नक्षत्र की तरह एक जगह पडा हुआ है। ऐसे-ऐसे अनन्त लोक हों तो उन्हें भी यह ज्ञान जानता। तो ज्ञान से अधिक व्यापक और कौन हो सकता है। ज्ञान ही विष्णु है और ज्ञान हे सो आत्मा है। बुद्ध कहते हैं ज्ञानस्वरूप को। वह है आत्मा। हरि नाम है जो पापों को हरे, विकारों को दूर करे। वह सामर्थ्य आत्मा में ही है। जितना जो कुछ लोक में चमत्कार है वह सब एक आत्मा का है। इससे अन्य-अन्य जगह उपयोग न भ्रमाकर मूलभूत सारभूत जो ज्ञायकस्वरूप आत्मा है उसका ध्यान करें।

स्वयं की अकिञ्चनता व हितरूपता— लोक में कहीं भी मेरा कुछ नहीं है, हित नहीं है। यह में ही स्वयं हितस्वरूप हूँ। अपने आपको यह मत देखें कि मुझमें कोई क्लेश है। क्लेश कहीं नहीं है। जैसा यह आत्मा ज्ञानानन्द मात्र है उतना अपने आपको देखो, सबसे न्यारा है, सबसे छूटा हुआ है, इसमें अन्य कुछ भी नहीं है फिर दुःख काहे का? यह आत्मा स्वयं परिपूर्ण है, जो जगत में अपना कुछ मानता है, अपना कुछ चाहता है वह दीन हीन ही बना रहता है। जरा परमात्मप्रभु की ओरतो देखो, इसके पास क्या है वहाँ धन नहीं। यहाँ एक लौकिक दृष्टि से कह रहे हैं बाहरी पदार्थों के ख्याल से कि एक छोटे गृहस्थ के पास भी तो कम से कम सारा अङ्गा भी सैकड़ों मन का रहता है। परमात्मा के पास क्या है? अरहंत है तो केवल शरीर है वहाँ। सिद्ध है तो वहाँ शरीर तक भी नहीं है। है न अकिञ्चन। जिसके पास कुछ न हो उसे अकिञ्चन कहते हैं। मगर इस

अकिञ्चन होने का कितना बड़ा प्रभाव है कि वे तीन लोक के अधिपति कहलाते हैं। बड़े-बड़े इन्द्र योगीश्वर जिनके चरणों का ध्यान करते हैं। यहाँ जो कुछ बनना चाहता है वह न कुछ है और जो कुछ भी नहीं बनना चाहता वह सब कुछ है।

श्लोक-1054

यदिह जगति किञ्चिद्विस्मयोत्पत्तिबीजं, भुज गमनुजदेवेष्वस्ति सामर्थ्यमुच्चैः।
तदखिलमपि मत्वा नूनमात्मैकनिष्ठम्, भजत नियतचिताः शश्वदात्मानमेव॥1054॥

सकल चमत्कारों की आत्मनिष्ठता— हे भव्य जीव ! इस जगत में जो कुछ भी तीन लोक में विस्मय आश्चर्य उत्पन्न करने वाला भी चमत्कार है भवनवासी देवों का मध्यलोक में मनुष्य का, अर्द्धलोक में देव का जो कुछ भी सामर्थ्य है, चमत्कार है, समृद्धियाँ हैं जो कि विस्मय आश्चर्य को उत्पन्न करने का कारण है वह सब सामर्थ्य किसकी है? इसआत्मा की है। अपने आत्मा का अचिन्त्य सामर्थ्य अनुभव नहीं करते और शरीर की दुर्लभता देखकर अपने में यह कल्पनाएँ करता कि हाथ मुझमें बल नहीं रहा। अरे आत्मन् ! तेरे में तो अनंत बल है, वह कहाँ जायगा किसी वस्तु में यह सामर्थ्य है क्या कि किसी के बल को समाप्त कर दे शरीर शरीर है। चाहे यह इतना शिथिल हो जाय कि हाथ भी स्वयं न सरका सके इतना भी शिथिल हो जाय। होने दो, जहाँ पडा है पडा रहने दो। तुम्हारा आत्मा तो अचिन्त्य सामर्थ्य वाला है। ऐसा ज्ञायकस्वरूप है कि समस्त सत् इसके ज्ञान में आये। ऐसा यह सर्वदर्शी है कि सब कुछ जाननहार इस आत्मा का यह दर्शन किया करे? इसमें ऐसा अनन्त आनन्द है कि जिस आनन्द में कोई बाधा डाल ही नहीं सकता जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। अपनी सामर्थ्य को देखो। यदि मोह रखेगा, किसी पर में प्रतीति रखेगा तो उसका फल तो संसार के दुःख ही है, फिर उनमें किसी पर एहसान क्यों डालना। त्रुटि जब हम खुद कर रहे हैं और अनात्मीय पदार्थ है पर वस्तु है उनमें जब प्रीति और मोह खुद उत्पन्न कर रहे हैं तब फिर कोई दुःख मिले किसी की ओर से विपदायें आयें उसमें फिर दूसरे का अपराध क्यों निरखते? दूसरे पर एहसान क्यों डालते। खुद त्रुटि कर रहे। इस ही समय अनुभव कर लें, समस्तपरपदार्थों का विकल्प तोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप सर्वविविक्त इस आत्मस्वरूप के निकट अपने ज्ञान को बैठाल लें और अनुभव कर लें कि संसार में मेरे लिए कोई विपत्ति नहीं है। मैं स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। यह आत्मा अनन्त शक्ति का धारक है सो जिस प्रकार जिस रीति से इसके बाद बल प्रकट हो उस प्रकार से अपना यत्न करें यह आत्मबल नियम से प्रकट होगा। सीधी सी बात

है कि समस्त पर पदार्थों को पर जानकर उनसे प्रीति मत करें, मोह मत करें। तू अब भी वैसा ही आनन्दमय है जैसा कि इसके स्वभाव में है। इस आत्मा के प्रताप से बड़े-बड़े सामर्थ्य प्रकट होते हैं।

श्लोक-1055

अचिन्त्यमस्य सामर्थ्यं प्रवक्तुं कः प्रभुर्भवेत्।
तच्च नानाविधध्यानपदवीमधितिष्ठति॥1055॥

आत्मा का अचिन्त्य सामर्थ्य— इस आत्मा की शक्ति तो अचिन्त्य है, इसके कहने के लिए कोई समर्थ नहीं हो सकता, लेकिन यह सब सामर्थ्य इस आत्मा के ध्यान के प्रताप से जिस पद में जितने रूप में आत्मा का ध्यान किया जा रहा हो उस पद में उतने रूप में इसके सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। छोटे से मिस्मरेजम से लेकर बड़े-बड़े मंत्रवादियों के चमत्कारों तक व ऋद्धि प्राप्त होगी उन चमत्कारों तक और इतना ही नहीं, अनन्तज्ञानियों के अनन्त चमत्कारों तक भी जो कुछ सामर्थ्य है वह सब इस आत्मा का है। तू अन्य वस्तुओं का मूल्य अपने चित्त में मत रख। यह ही आत्मा स्वयं अपने आप प्रभु हैं, ऐसा अमूल्य है, ऐसा महत्त्वशाली है कि मेरे लिए इस मेरे अंतस्तत्त्व को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है, कोई शरण नहीं है। अनादिकाल से अनन्त भवों में खूब घूम घूमकर भी तो देख लिया होगा, बता क्या है तेरे पास? उन भवों की बात छोड़ दो, इस ही एक जीवन में कितने-कितने काम कर डाले, कितनों के सम्बंध बना डाला, कितनों के प्रीति बनायी, इन सब बातों के गुजर जाने के बाद आज अपने आपमें देखो क्या है? और कुछ कसर रह गयी हो तो कुछ जीवन अभी शेष है, उनमें जो धोखे होंगे उनसे भी समझ लिया जायगा आगे। अन्त में क्या रहेगा, इसके पास क्या मिलेगा? उत्तर यह है केवल अपना आत्माराम। इसके सिवाय अन्य कुछ हाथ नहीं है और कुछ भी जो चमत्कार पहिले देखा, हुए या हैं दुनिया में, वे सब इस आत्माराम के हैं। इस मूल ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व की ओर रुचि करें, उन चमत्कारों में रुचि न करें।

श्लोक-1056

तदस्यकर्तुजगदहं निलीनं तिरोहिताऽस्ते सहजैव शक्तिः।
प्रोधितस्तां समभिव्यनक्ति प्रसह्य विज्ञानमयः प्रदीपः॥1056॥

आत्मा का अतुल प्रताप व उसके विकास व अविकास का हेतु— इस समस्त विश्व को अपने प्रभाव में अपने ज्ञान में लीन कर लेने का सामर्थ्य इस आत्मा में है परन्तु कर्मों से आच्छादित होने के कारण वह शक्ति तिरोहित हो गयी है। जैसे कहते हैं ना कि एक म्यान में दो तलवार नहीं समा सकती हैं, इस ही प्रकार एक उपयोग में विशुद्ध ज्ञानानन्द, सम्पूर्ण ज्ञानानन्द तथा जगत के ये वैषयिक सुखों के विकार ये दोनों नहीं समा सकते। या तो छुटपुट मेरा तेरा सीमित ज्ञान कर ले और उस अनन्त ज्ञान से हाथ धो बैठे या फिर इस छुटपुट मेरे तेरे वाले ज्ञान की उपेक्षा कर दे और अपनी ज्ञानसामर्थ्य को निरख, केवल आत्मतत्त्व को देख। फल यह होगा कि समस्त विश्व इसके ज्ञान में अवश होकर प्रतिबिम्बित हो जायगा। एक उपयोग में दो बातें नहीं समा सकती कि थोड़ा पहिले जाने हुए पदार्थ का प्यार बनाये रहें और समस्त विश्व के ज्ञाता भी बन सकें। ये दो बातें आत्मा में एक साथ न बन सकेगी। किसी एक से रति रखें। या तो यहाँ के ही छुटपुट आनन्द में मग्न रहें, विपदायें सहें, संसार के चक्रों में पड़े रहें या फिर अपने अनन्त सामर्थ्य का चमत्कार प्रकट करें। तो इन्द्रियजन्य विनाशीक पराधीन असार मुसुखाभासों की प्रीति भी करते रहें और अद्भुत अनन्त परम निराकुल आत्मीय आनन्द भी पा लें, ये दो बातें आत्मा में एक साथ नहीं हो सकती। अपना ठीक निर्णय बना लें, या तो भोंदू भी बने रहने का प्रोग्राम बनाये जा अर्थात् इन्द्रिय के विषयों में सुख मानने का, उन विषम साधनों के संचय में ही चित्त बनाये रहने का अपना प्रोग्राम बनाये रह, सुख दुःख ये सब कुछ भोगता जा या फिर इन विनाशीक असार सुखाभासों से मुख मोड़कर परमपवित्र आनन्दधाम अपने आत्मा की ओर रह और विशुद्ध आनन्द का अनुभव कर। इसी प्रकार ये दो बातें भी नहीं बन सकती कि लोक में मेरी नामवरी हो, यश फैले, ये पड़ोसी देशवासी लोग मेरे गुण गायें, मुझे भला कहें, मेरा खूब नाम जाहिर हो, एक यह बात और दूसरी वह बात कि यह आत्मा अपने आपमें निर्विकल्प निस्तरंग होकर प्रसन्न रहा करे। ये दो बातें भी एक साथ न बन सकेंगी। देखो पड़ोसियों के लोगों के बारे में पड़ते रहें कि भाई मेरा नाम ले लेना और किसी को चित्त में बसाना और जनता को प्रसन्न किए रहने का उद्यम करना, यह पैरों में पड़ने से क्या कम है? इतना बड़ा विकल्प उठाना यह सबकी अपनी-अपनी तरकीब है। जब एलेक्शन होगा उस समय वोटों की प्रार्थना के लिए कोई किसी पद्धति से कोई किसी पद्धति से आखिर दीन हीन बनकर लोगों से याचना करना वह पैरों पड़ना नहीं है तो और क्या है? या तो इस ही पार रहें या आत्मीय अनन्त आनन्द का अनुभव करें, दोनों का अनुपात बना लें जिसमें सार दिखता हो उस कार्य को करें। बहुत समय व्यतीत हो गया, अब एक यह उपाय बनायें जिससे अपना आत्माराम अपने आपमें निर्मल बना रहे। क्रोध, मान, माया, लोभ, काम किसी भी विकार की तरंग न उठे ऐसा निर्दोष शुद्ध उपयोग बनायें। इस पुरुषार्थ के प्रताप से ही अपना कल्याण होगा। यह शिव स्वस्वरूप है, यही समग्र कल्याण है, यही परम शरण है। एकचित्त होकर हम

निज अंतस्तत्त्व का अनुभवन करें। उस ही के उपाय में आगे वर्णन किया जायगा कि बाह्य में हम कैसी परिणति बनायें जिससे हम यह अपना आन्तरिक सामर्थ्य प्राप्त कर सकें।

श्लोक-1057

अयं त्रिजगतीभर्ता विश्वज्ञोऽन्नतशक्तिमान्।
नात्मानमपि जानाति स्वस्वरूपात्परिच्युतः॥1057॥

स्वरूपपरिच्युत जीव के अनन्त शक्तिस्वभाव होने पर भी आत्मज्ञान का अभाव— यह आत्मा तीनों लोकों का स्वामी है, समस्त पदार्थों का जाननहार है, अनन्त शक्ति वाला है, परन्तु अनादि काल से ही यह जीव अपने स्वभाव से च्युत है, अपने आपको जानता नहीं है। जैसे कोई धनिक पुरुष जिसका धन जमीन में गड़ा हो, लाखों करोड़ों की विभूति का पता न हो तो वह अपने महल में होने पर भी दीन है, दरिद्र है इसी प्रकार निज आत्मप्रदेशों में समस्त वैभव मौजूद है समस्त समृद्धियाँ होने पर भी इसे पता नहीं है कि मैं अनन्त शक्तिमान हूँ, तब यह अपनी इस अनन्त सामर्थ्य को भूलकर बाहरी विषयों में यह प्रतीति करता है और दुःखी होता है यह सबसे बड़ा भारी पुरुषार्थ है कि अपने आपके अतुल ज्ञान सामर्थ्य का परिचय पा लेना। एक शान्ति ही तो चाहिए ना, यदि शान्ति अपने आपमें नियत हो जाने से सबका सम्बंध तोड़ देने से प्राप्त होती है तो उसमें टोटा क्या है? लाभ ही लाभ है। ऐसा ज्ञान बनायें, ऐसा उपयोग बनायें कि बाह्य पदार्थों से चित्त हटकर एक अपने आपके अंतः स्वरूप में रहें। यह अपनी ही बड़ी भारी भूल होगी जो ऐसा अज्ञान बना रहे है कि अपने आपकी महिमा का स्वयं तो पता न रहे। ध्यान के प्रकरण में इस प्रसंग में यह उत्साह दिलाया जा रहा है कि तू बाहर में मत झाँक। बाहर में कुछ न मिलेगा। तेरी सब सामर्थ्य समृद्धि तेरे में ही है, अपने आपमें दृष्टि कर और सदा के लिए शान्त सुखी बना। कलकों से छूटकर निष्कलंक पवित्र बन यह आत्मतत्त्व का ध्यान हम आप सबको अनन्त सामर्थ्य और अनन्त आनन्द प्रदान कर सकेगा। अपनी सामर्थ्य को मत भूल और बाहरी पदार्थों में मत अपना सुख ढूँढ़।

श्लोक-1058

अनादिकालसम्भूतैः कलङ्कैः कश्मलीकृतः।

स्वेच्छयार्थान् समादत्ते स्वतोऽत्यन्तविलक्षणान्॥1058॥

मलिन जीव की स्वेच्छाचारिता— यह जीव अनादिकाल से उत्पन्न हो रहे कलंकों से मलिन हो गया है। इस जीव के साथ ये रागद्वेष मोह के कलंक अनादिकाल से लगे हुए हैं। यह पहिले शुद्ध हो और पीछे मलिन बन गया हो ऐसी बात नहीं है। यह परम्परा से ही अनादि से ही मलिन होता चला आ रहा है। यों कषायों से कलंकों से मलिन होता हुआ यह प्राणी अपनी इच्छाओं से विषयों को ग्रहण करता है। जो विषय आत्मस्वरूप से अत्यन्त विलक्षण है वे हैं चेतन और जिन विषयों को यह प्राणी ग्रहण करता है वे विषय हैं सब अचेतन। चेतन तो विषय इनका है ही नहीं कुछ। कदाचित् यह चैतन्यस्वरूप इनका विषय बन जाय अर्थात् ज्ञान का विषय बन जाय तो इसके सारे अचेतन विषय छूट जायेंगे। फिर विषयों का ग्रहण ही नहीं हो सकेगा। यह जीव जिन-जिन पदार्थों में सुख मानता हैवे सब पदार्थ अचेतन हैं। पुद्गल में यह अपना सुख ढूँढ़ता है। रसना का विषय है खट्टा मीठा आदिक, उन रसों के स्वाद में अपना सुख मानता है घ्राण इन्द्रिय का विषय है सुगंध दुर्गन्ध, उनमें यह जीव इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनाये रहता है। नेत्र इन्द्रिय का विषय है रूप तो रूप के निरखने में यह सुख माना करता है। यों ही कर्ण इन्द्रिय का विषय है शब्द। रागपोषक मनः प्रिय शब्दों में यह इष्ट बुद्धि करता है। तो इसने जिन विषयों को भोगावे सब विषय अचेतन ही है और कभी मन के विषय को भी भोगता है तो वे मन के विषय भी अचेतन हैं। मन के विषय यश नामवरी ये ही तो होते हैं। तो यश भी चीज क्या है, नामवरी भी चीज क्या है। वे सब भी एक पौद्गलिक बातें हैं। इन मायामयी पुरुषों से मायामयी नाम को कहलवा लेना यह कितना मायारूप काम है। उससे इस आत्मा को कोई लाभ नहीं है। लेकिन ऐसे भौतिक मन के विषय से भी यह जीव कषाय कलंकों से मलिन होता हुआ राग कर रहा है।

प्रभु की प्रभुता व अपना नैकट्य— देखो भैया ! हममें और प्रभु में बहुत भेद भी है और कुछ भेद भी नहीं है। एक अपने आपके आत्मा का परिचय हो और आत्मा का नियंत्रण बन जाय, नियन्त्रण लगातार आत्मध्यान की परम्परा बन जाय तो लो यह ही प्रभुता अब शीघ्र ही निकट है। अब भेद भी नहीं नजर आता। यह सब अन्तर लो शीघ्र ही मिटा दिया जाने वाला है और जब तक अपने आत्मा का परिचय नहीं हो पाता तो इसके लिए बड़ा पहाड़ है। प्रभु की प्रभुता में और खुद की स्थिति में बड़ा अन्तर पडा हुआ है। यह आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, ध्यान दीजिए। बाहर में कुछ इच्छा न कीजिए। क्योंकि ये सब मायामयी चीजें हैं, विनाशीक हैं, इच्छा भी असार वस्तु है और यह सारा लोक भी विनश्वर है, स्वप्नवत् है। यहाँ सार का कहीं नाम भी नहीं है। लोग कहते हैं कि संसार में सुख तो है तिल बराबर भी और दुःख है पहाड़ बराबर। अरे जब आनन्दधाम निज अंतस्तत्त्व की याद नहीं है तो सुख तिल भर भी नहीं है। जिसे ये सुख समझ रखा है वह सब भी दुःख ही है, क्लेश ही है। सुख दुःख और क्लेश इन तीन शब्दों के अर्थ जुदे-जुदे

है। दुःख तो वह है जहाँ इन्द्रिय को बुरा लगे और सुख वह है जहाँ इन्द्रिय को सुहावना लगे। मगर उन सुखों के काल में भी क्लेश ही चल रहा है। उन सुखों के भोगने के विचार में भी क्लेश ही चल रहा है। उन सुखों के भोगने के विचार में भी क्लेश है, उनके प्रारम्भ में भी क्लेश है। सुख भोगने के काल में भी केवल क्लेश है। तो जैसे क्लेश दुःख के प्रसंग में हुआ करते वैसे ही क्लेश सुख के प्रसंग में भी है, तो यह भी कहना कि सुख तिल बराबर है दुःख पहाड़ बराबर है यह भी युक्त नहीं है किन्तु समग्र दुःख ही दुःख है, क्लेश ही क्लेश है, आनन्द का तो संसार भावों में नाम भी नहीं है, यह पुरुष अनादिकालीन परम् परा से चले आये हुए रागद्वेष मोह भाव कलंकों से मलिन होता हुआ अपनी इच्छा से मनचाहा जैसी चित्त में बात आयी विषय को पदार्थों को ग्रहण करता है, ऐसा वह दीन-हीन बन रहा है परन्तु आत्मा का स्वरूप देखें, सामर्थ्य देखें तो यह सर्वज्ञता और पूर्ण निराकुलता का ही स्वरूप रख रहा है।

श्लोक-1059

दृग्बोधनयनः सोऽयमज्ञानतिमिराहतः।

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति॥1059॥

दृग्बोधनयन आत्मा की अज्ञानतिमिराहत होने से अज्ञता— इस आत्मा के नेत्र हैं दर्शन और ज्ञान। सो इनके दर्शन ज्ञान रूपी दोनों नेत्र अज्ञान अंधकार से आवृत हो गए हैं अर्थात् नेत्र मुंद गए हैं। इसे अब साफ स्पष्ट सीधा यथार्थ नहीं दिखता है और न जानने में आता है, ऐसे अन्ध की स्थिति में यह प्राणी कुछ जानता भी हो तो कुछ जानता नहीं है, ज्ञानों में ज्ञान वही ज्ञान है जो ज्ञान ज्ञान के स्वरूप का ज्ञान करता रहे, विषय भी ज्ञान है अतएव उस विषय की ओर से भी इसका नाम ज्ञान है। जो क्रिया हो रही है वह भी मात्र जाननक्रिया हो रही है, सो उस करतब की दृष्टि से भी यह ज्ञान है और ज्ञान शक्ति का परिणमन है सो भी ज्ञान है। सो ज्ञानों में ज्ञान वही है जो ज्ञान का ही ज्ञान करता रहे। इसके अतिरिक्त अन्य किन्हीं पदार्थों को जाना करे यह ज्ञान का परिणमन तो जरूर है किन्तु यह ज्ञान नहीं है, सब अज्ञान है जिस ज्ञान परिणमन में आकुलता बनी रहे वह क्या ज्ञान है, जैसे किसी रिश्ता या सम्बंध में बड़े क्लेश और विपदा बनी रहे तो वह काहे का सम्बंध है, लोग कह भी बैठते हैं। काहे का सम्बंध है, विपदायें ही विपदायें हैं, आराम तो होता ही नहीं, सुख तो होता ही नहीं, ऐसे ही समझिये कि जो ज्ञान ऐसे विषयों को करें, ऐसा अज्ञानरूप बने कि जिसमें विपदा और क्लेश ही भोगने में आये तो वह ज्ञान ज्ञान नहीं है अज्ञान है। तो यों कर्मों के उदय से इस आत्मा के दर्शन और ज्ञान नेत्र ढक गए हैं, आवृत हो गए हैं, अतएव यह आत्मा जानता हुआ भी नहीं जानता। यद्यपि

जान रहा है कि यह अमुक नगर है, इसमें ऐसा प्रबंध है, ऐसे नियम हैं, लोग इस नीति पर चल रहे हैं, देश-विदेश का बहुत-बहुत ज्ञान भी करे तो ज्ञान तो कर लियापर ज्ञान करने वाला यह है कौन इसका कुछ परिचय नहीं है तो वह ज्ञान क्या रहा। वह तो एक विद्यार्थी जैसा अभ्यास है। एक स्कूल में इन्स्पेक्टर ने खबर भेजी कि हम कल दोपहर के बाद दो बजे बच्चों की परीक्षा लेने आयेंगे, सो मास्टर ने बच्चों की बहुत बड़ी तैयारी करायी और जो खास-खास प्रश्न थे वे बता दिये। देखो रूस में यह नदी प्रधान है। अमेरिका में यह, अमुक जगह यह पहाड़ प्रसिद्ध है, यों विश्व का खूब अध्ययन करा दिया, दूसरे दिन सारे बच्चे गर्व से बैठे थे कि इन्स्पेक्टर साहब जो भी पूछेंगे झट बता देंगे। जब इन्स्पेक्टर आया तो पूछता है कि तुम्हारे गाँव के पास जो नाला बह रहा है वह कहाँसे आया है और कहाँजाकर मिल गया है? वे बच्चे इस प्रश्न पर कुछ बता ही न सके, उन्होंने तो विश्व की बातों का अध्ययन किया था। तो हम निकट का तो ज्ञान करें नहीं और बड़ा ऊँचा ज्ञान कर लें तो जैसे वह विडम्बनारूप है ऐसे ही निकट की भी बात करें यह खुद में एक हूँ, जाननहार भी यह में खुद हूँ इसका मान भी न करें और बाहरी-बाहरी बातें जानते रहें तो वह ज्ञान कुछ ज्ञान नहीं है, ऐसी स्थिति में कितना भी जानना हो पर वह जानता हुआ भी नहीं जानता है। कुछ भी देख रहा हो दुनिया में पर वह देखता हुआ भी नहीं देखता। अरे भाई चाहिए तो शान्ति आनन्द और शान्ति आनन्द मिले नहीं, क्षोभ ही क्षोभ मचा रहे तो बाहर कितनी भी जानकारियाँ बनायें, कुछ भी देख भाल लें पर खुद तो गया बीता ही है।

श्लोक-1060

अविद्योद्भूतरागादिगरव्यग्रीकृताशयः।
पतत्यनन्तदुःखाग्निप्रदीप्ते जन्मदुर्गमे॥1060॥

अज्ञानजरागादिविष से व्यग्रीभूत जीव का जन्मदुर्गम में पतन— मोह से उत्पन्न हुए रागादिक रूप विष के विकार से व्याप्त चित्त होने से यह आत्मा दुःखरूपी अग्नि से जलता हुआ इस कठिन संसार में गिरता पड़ता चला आ रहा है। यह आत्मा स्वच्छ ज्ञानस्वरूप केवल जानन करता रहे ऐसी प्रकृति का तत्त्व है, लेकिन इसमें रागादिक का विष आ गया है, कुछ मतलब नहीं, अत्यन्त भिन्न पदार्थ है चेतन हो अथवा अचेतन। किसी का सुख दुःख पुण्य पाप आदि ज्ञान बाँटा नहीं जा सकता, किसी को दिया नहीं जा सकता। सबका आत्मा अत्यन्त जुदा-जुदा है, दूसरा आत्मा भी जो कुछ भी प्यार दिखाता है वह भी अपने स्वार्थवश दिखाता है उनको आराम, उनका विषय, उनकी सुविधा देना चाहता है, इन विकारों से उपकृत होकर अथवा आगामी

काल में भी ऐसी सुविधा का सम्बन्ध बना रहे इस-इस ख्याल से दूसरे जीव प्रीति दिखाते हैं। यह बात अपनी है ऐसी ही बात सबकी है, कुछ तत्त्व नहीं है लेकिन यह अज्ञानी प्राणी इन भिन्न विनश्वर पदार्थों में अपनी रति करता है, प्रीति जोड़ता है। इस प्रीति का कुफल आकुलता है उसे भी भोगता जाता और प्रीति भी नहीं छोड़ता। यह कितना गहन मोह बढ़ाया जा रहा है। भैया !सुखी होने का तो जरा ही उपाय है। कर विचार देखहु मनमाँही, मूदहु आँख कितहु कछु नाहीं। अरे जरा इन विकल्पों की आँखों को बन्द कर लो और अन्तर में देखो ये बाहरी संकट, कुछ भी रंग ढंग कुछ भी मेरे आत्मा में नहीं हैं। और है मेरे आत्मा में अनन्त प्रभुता का भण्डार। यह है स्वयं परमात्मतत्त्व। सुखी होने का तो जरा सा ही उपाय है। जिसमें एक सेकेण्ड भी नहीं लगता मगर ऐसा अज्ञान छाया है कि जिससे ऐसा राग विष पी लिया गया है कि यह चित्त व्यग्र हो जाता है, तड़फता है और तत्त्व कुछ नहीं है। भिन्न सब जीव हैं, सो उन रागादिक भावों का फल यह है कि अनन्त सुख की ज्वालाओं में जलना पड़ता है, अपने आराम आनन्द निराकुलता के ढंग से चलना सन्मार्ग बनाना यह सब अपने आधीन है। जितना परप्रीति, पर सम्बन्ध छोड़े, अपने एकत्वस्वरूप की ओर आये उतना ही आनन्द है, पवित्रता है, सब झंझटों से मुक्ति है। किसका क्या?

रागविजय में सकलविजय—श्री रामचन्द्रजी का सेनापति कृतान्तवक्र जब विरक्त होने लगा तो श्रीरामचन्द्रजी से कहने लगा कि अब इस संसार में मेरा मन नहीं लगता, मैं जंगल में जाऊँगा और आत्मसाधना की दीक्षा लूँगा। तो रामचन्द्रजी कहते हैं कि अरे तुम जंगल में वे क्लेश कैसे सह लोगे? भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, मच्छर और जिस चाहे कुबुद्धि के द्वारा अपमान का होना और कोई सताये, कोई प्राण भी हर ले, शस्त्रघात भी कर दे सारे दुःख हैं जंगल में। तुम वहाँ के दुःख कैसे सह सकोगे तो कृतान्तवक्र कहता है कि हे रामचन्द्रजी सबसे कठिन बात तो थी आपका स्नेह तजना। आपके प्रति इतना स्नेह था कि उसका छोड़ना सबसे कठिन काम था। जब हमारा वह स्नेह छूट गया राग प्रीति अब नहीं रही अर्थात् शुद्ध हृदय बन गया, केवल ज्ञाता द्रष्टा की स्थिति कर ली तो अब जंगल के वे क्लेश तो तुमने बताये हैं उनका छोड़ना कौनसी बड़ी बात है? तो सत्य समझो कि सबसे कठिन बात है मोह और राग का तजना। जैसे लोग खाने-पीने के सम्बन्ध में भी ऐसा ख्याल बनाते हैं कि चलो अब आलू छोड़ दें, मूली छोड़ दे, पर यह चित्त में नहीं लाते हैं कि करोड़ों मन आलुवों से भी अधिक पाप जिस चीज में है— बाजार की जलेबियाँ कई दिनों की सड़ी हंडी में जो बनायी जाती है, बाजार का दही, गोभी फूल, सड़ी भूसी चीजों के त्याग पर दृष्टि नहीं है। यात्रा कर लें आलू छोड़ दें, यद्यपि आलू भी अनन्त काय वाला है, मगर उससे भी अधिक हिंसा तृप्त जीव की हिंसा है, उस पर दृष्टि नहीं है, ऐसे ही धर्मसाधना के लिए धर्म करते हैं चलो एक विधान थाप लें, निमंत्रण छाप लें, लोगों को बुला लें, यज्ञ होगा, अभिषेक होगा इस पर तो दृष्टि जाती है, पर इस पर दृष्टि नहीं जाती कि मोह और राग हमारा कितना कम पडा है। धर्म करना है तो यह उत्साह बनना चाहिए कि अब यह मोह नहीं करना

है, यह दुःखदायी है, अब यह राग नहीं करना है, इसमें क्लेश ही क्लेश बनता है। धर्म करने के लिए यहाँ दृष्टि नहीं चलती। दृष्टि चलेगी उन ऊपरी क्रियाओं में जिनमें कहो वे 7 दिन जितने दिन विधान में गुजरेंगे क्लेश में, गुस्सा में, झंझटों में गुजरेंगे। क्योंकि जब आमंत्रण दे दिया है, दस पाँच रिश्तेदार भी आ गए हैं, चार छः लोग विधान में खड़े करवा दिये हैं, तो अब क्लेश के साधन पचासों आयेंगे। जिन भाइयों को खड़ा किया है वे भाई समय पर आयें अपने अहंकार से रहें, कोई बात में कमी हो तो उस पर नाराज होते, तुम यों क्यों नहीं करते, ऐसा क्यों नहीं हुआ आदि। और जो पचासों लोग बाहर के आये हैं उनके खाने पीने की व्यवस्था करना, यों चित्त में कितने क्लेश मचा करते हैं। तो इतने-इतने क्लेशों में समय गुजार देंगे धर्म के नाम पर कुछ क्रियाओं का बहाना लेकर, पर यह ध्यान न देंगे कि हमने मोह ममता में कितनी कमी की है। देखो— किसी दूसरे जीव की किसी क्रिया को निरखकर यदि क्रोध आता है तो वहाँ ऐसा ज्ञान बनाना चाहिए कि यह तो इस बाह्य जीव का परिणमन है, इसका परिणमन इसमें है, इस जीव ने मेरे में कुछ नहीं किया। जो उसमें कषाय जगी है सो उसने अपना ही परिणमन किया। मुझे उस पर दृष्टि रखकर क्रोध करना योग्य नहीं है। विषयों में मेरी प्रीति न बने, शुद्ध आत्मतत्त्व पर ठहरे रहें ऐसी तैयारी करना है। यह तो दृष्टि में आता नहीं, किन्तु बाहरी-बाहरी बातों में ही दृष्टि जाती है जिसके कारण बड़े-बड़े कष्ट भोगने पड़ते हैं। तत्त्वज्ञान जगेबिना आत्मा का उद्धार होना असम्भव है, अतएव सब कुछ भी सर्वस्व समर्पित हो जाय, लेकिन तत्त्वज्ञान हमारा बने, दृष्टि निर्मल बनी रहे, अपने आपकी प्रभुता के दर्शन रहा करें, इससे बढ़कर उत्कृष्ट वैभव अन्य कुछ नहीं है।

श्लोक-1061

लोष्ठेष्वपि यथोन्मत्तः स्वर्णबुद्ध्या प्रवर्तते।

अर्थेष्वनात्मभूतेषु स्वेच्छयायं तथाभ्रमात्॥1061॥

अज्ञ प्राणी का अनात्मभूत पदार्थों में स्वेच्छाचार प्रवर्तन— जैसे कोई पागल पुरुष पत्थर में स्वर्णबुद्धि कर ले और स्वर्ण की तरह पत्थरों के प्रति व्यवहार करे, इसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान से अपने स्वरूप से भिन्न अन्य पदार्थों में स्वेच्छाचाररूप प्रवृत्ति करता है, रागद्वेष मोह करता है। इस आत्मा को अपने आपकी समृद्धि का, शक्ति का परिचय नहीं है, इस कारण बाहरी पदार्थों को महत्त्व देता है। बहुत वैभव हो गया तो उससे अपने को बड़ा मानता है, और है बिल्कुल भिन्न वस्तु। आत्मा में वैभव का रंच स्पर्श भी नहीं है, लेकिन मोह बुद्धि ऐसी है कि अत्यन्त भिन्न असार पदार्थों में भी यह ममता रखता है। तो जैसे उन्मत्त पुरुष अपनी इच्छा

से जिस चाहे प्रकार भ्रम करके मान्यता बनाता रहता है इसी प्रकार यह मोही जीव भी अपनी इच्छा से जैसा चाहे भ्रम करके अपनी मान्यता बनाता है। जितने भी अपने अन्दर में विकल्प और विचार होते हैं उन विचारों में सार क्या है? कुछ भी सार नहीं मालूम होता। किस तरह का विचार कर रहे, कामकाज का या धन संचय का या किसी रिश्तेदार के सम्बंध में सोचने का या किसी भी प्रकार का विकल्प होना ये तो जीव में औपाधिक तरंगे हैं। तरंगे उठी और बिला गयी। आत्मा के पास कुछ नहीं रहता। विचार हुआ सम्बंध हो गया, पर अनर्थ और एक यह हो जाता है कि उन विचारों के कारण उन खोटे आशयों के कारण कर्मबन्ध हो जाता है जिसके उदयकाल में इस जीव को दुःख भोगना पड़ता है, तो इन भिन्न पदार्थों के प्रति मोही जीव की भावना उपासना बनी रहती है, बस यही दुःख का कारण है, इतनी सी बात न हो तो किसी प्रकार का दुःख नहीं है। चित्त निरन्तर परपदार्थों की ओर है, अपने आत्मा की ओर दृष्टि नहीं जाती, न उत्साह होता, न मन में बात आती है कि मैं अपने आपके स्वरूप को भी पहचानूँ और इस आत्मदेव के निकट बसा करूँ। अपने आपकी सुध भूल गयी, बाहरी पदार्थों में ही इसका निरन्तर चित्त बना है, तत्त्व कुछ नहीं निकलता। लगे रहे, समय बीत गया, अन्त में मालूम पड़ता है कि सब धोखा ही धोखा रहा। मुझमें कोई ऐसी बात नहीं आयी जिससे अपने को कुछ भरा पूरा पाता होऊँ। जब यह जीव उन पदार्थों से उपेक्षा करे, अपनी शक्ति की सम्हाल करे तो बस पा लिया मोक्षमार्ग। परमात्मा बनने का उपाय पा लिया समझिये, अन्यथा तो यह ही भटकना रहेगी।

श्लोक-1062

वासनाजनितान्येवसुख-दुःखानि देहिनाम्।
अनिष्टमपि येनायमिष्टमित्यभिमन्यते॥1062॥

प्राणियों के सुख दुःख की वासनाजनितता— जीवों को जितने भी सुख और दुःख होते हैं वे अनादि अविद्या की वासना से उत्पन्न होते हैं, इस कारण यह आत्मा अनित्य को भी नित्य मानता है। क्या सुख है, क्या दुःख है। सबमें शक्ति है, जो विषयों के सुख हैं उनमें भी क्लेश पडा है और जो शारीरिक या अन्य प्रकार के कष्ट हैं, दुःख हैं उनमें भी क्लेश पडा हुआ है। सबके सब अनिष्ट हैं, आत्मा को लाभ करने वाले ये नहीं हैं। क्या हुआ, घर में रहे, अच्छा घर बना लिया, बाह्य साधन बना लिया, आराम भी करते हैं, समय पर सुख से भोजन भी करते हैं, कमाई भी खूब होती है, सब कुछ है, पर बुढ़ापा तो आयगी ही, अथवा मृत्यु तो आयगी, फिर क्या साथ रहेगा? जैसे कहते हैं चार दिनों की चाँदनी फिर अंधेरी रात। इससे आत्मा का स्थायी लाभ

क्या हुआ? दिन हैं आये चले गए। न इस समय भी शान्ति है और न आगे भी शान्ति मिलेगी। इन सांसारिक सुखों में लीन होने से शान्ति का तो नाम है नहीं। सब वासना से ही सुख और दुःख मालूम किये जाते हैं। आत्मा के पास तुरन्त केवल एक शुद्ध स्वरूप का दर्शन रहे और उससे जो अपने आप आत्मीय आनन्द प्रकट होता है बस वह भर बना रहे वह तो है सारभूत बात और बाकी सब औपाधिक समागम हैं, इस जीव के अहित के लिए ही हो रहे हैं। यह जीव अनिष्ट को भी इष्ट मानता है। जैसे बालक जलती हुई आग को सुहावना समझकर पकड़ लेते हैं और जल जाते हैं ऐसे ही ये समग्र समागम सुहावने लगते हैं, इन विषयों को यह जीव इष्ट मानकर अपनाता है, पर जैसे अग्नि को हाथ में लेने से हाथ जल जाता है इसी प्रकार इन विषयभूत पदार्थों को अपनाने से इष्ट मानने से क्लेश ही क्लेश होता है। किसी भी जीव की कथा सुनो, कोई मनुष्य अपने दुःख की कथा कहे तो उसमें सिवाय इस बात के और कुछ न पायेंगे कि हमने अमुक पर पदार्थों में मोह बसा लिया है। बस इतना ही मात्र दुःख है अन्य कुछ दुःख नहीं। यदि संसार में सुख होता तो तीर्थकर प्रभु क्यों समागम को त्यागते।

प्रभुभक्ति का लक्ष्य— हम प्रभु के दर्शन करें और प्रभु जिस मार्ग पर चले उस मार्ग की हम उपासना न करें तो प्रभु की भक्ति क्या हुई? प्रभुदर्शन करते समय में ज्ञान वैराग्य और त्याग इन तीन का महत्त्व समझें। आपने उत्कृष्ट ज्ञान पाया, सम्यग्ज्ञान बनाया, प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने-अपने स्वरूप में है इस प्रकार की आपने दृढ़ दृष्टि की जिससे सम्यग्ज्ञान बना और इस तत्त्वज्ञान के कारण आपके वैराग्यभाव जगा, परपदार्थों से राग हटा। यह हित की चीज है सो प्रभु आपने की है। हम भी ज्ञान और वैराग्य का आदर करें, उसके प्रति हमारे चित्त में आस्था हो और उस पर चलने का यथाशक्ति प्रयत्न करें तो हे प्रभो मेरा भी कल्याण इसी पथ से होगा। प्रभु आपने सम्यग्ज्ञान पाया, वैराग्य पाया और त्याग किया। जिसके इन्द्र देवेन्द्र जैसे सेवक हो, जिनको मनमाना सब कुछ भोग सामग्री प्राप्त हों, महामण्डलेश्वर राजा के पुत्र हों ऐसे उन तीर्थकरों ने भी जब यह समझ लिया कि संसार का अणु मात्र भी आत्मा को हितरूप नहीं है तो उन्होंने इन समस्त परपदार्थों का त्याग किया। और, इतना सर्वदेश त्याग किया कि केवल शरीर-शरीर ही रह गया। वस्त्र आभूषण सेवक कुछ भी तो साथ नहीं रहे। जिनको अपने शुद्ध आत्मा का ध्यान करने की उमंग उठी हो वे यदि किसी भी परपदार्थ का परिग्रह रखें तो उस परिग्रह की वासना ध्यान में बाधा दिया करती है। यह तथ्य जानकर प्रभु ने अणुमात्र भी परिग्रह अपने पास नहीं रखा। और शरीर तो त्यागा नहीं जा सकता था वस्तु के व धन के मानिन्द अतएव वह शरीर लगा हुआ है, लेकिन शरीर लगा हुआ होकर भी उनकी शरीर में भी ममत्वबुद्धि नहीं है कि यह शरीर मेरा कुछ है। वे प्रभु समस्त परिग्रहों से विरक्त होकर अपने स्वरूप को निहारते भये। उसके प्रताप से वे अनन्त ज्ञान अनन्त आनन्द के ऐश्वर्य के स्वामी भी बन गए। प्रभु के दर्शन करने में बहुत बड़ा पवित्र सम्पर्क स्थापित होता है प्रभु के और भक्त के बीच।

प्रभुमार्ग का अनुसरण करने में प्रभुभक्ति की सम्पन्नता— प्रभुदर्शन कोई साधारण बात नहीं है। प्रभु और भक्त का सम्बंध बन रहा है, जो प्रभु में गुण हैं वैसे ही गुण चितारे जा सकते हैं और अपने आपमें निरखे जा रहे हैं तो अपने आपकी उन्नति का ही तो कारण है। हे प्रभु ! आपने सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान उत्पन्न किया, उस तत्त्वज्ञान से समस्त विश्व का आपने राग छोड़ा, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया, मोह रागद्वेष को चकनाचूर किया। समग्र बाह्य पदार्थों का और विकारों का त्याग किया। आप ज्ञान वैराग्य और त्याग की साक्षात् मूर्ति हैं, यह प्रभु का स्वरूप हम आपको शान्ति के पद में ले जाने के लिए शिक्षा दे रहा है कि हे भक्त तू क्यों परविषयों की आशा बनाकर अपने दिमाग में उलझन बनाये हुए है, उन समस्त पर विषयों की आशा को तज दे और अपने आपके विशुद्ध आनन्द का अनुभव कर ले, यह शिक्षा प्रभु की मुद्रा देखने से हमें मिलती रहती है। प्रभु मुद्रा यह बतलाती है कि दुःख का कहाँकाम है? देखो यह में ज्ञानमूर्ति आनन्दधाम कैसा निराकुल बैठा हुआ हूँ। ऐसे ही पर की प्रीति तजकर निराकुल विश्राम से ऐसा बैठ जावो कि बाहर में कुछ करने का विकल्प न रहे तो तुम भी सुखी हो। भक्त के पूजन में ये ही भाव भरे जाते हैं, प्रभु के गुणों की महिमा बखानी जाती है और साथ ही साथ प्रभु की ही तरह अपनी महिमा का परिचय हो जाता है। जगत में जितने जो कुछ चमत्कार और आविष्कार देखे जाते हैं वह सब आत्मा की ही महिमा है। जो भी वैज्ञानिक हुए उनके ज्ञान की ही तो महिमा है। इस जीव ने अपने आत्मा की शक्ति को कुछ नहीं पहिचाना इस कारण बाह्य पदार्थों की आशा रखकर दीन बन रहा है। प्रभु पूजा में प्रभु का ध्यान अपनी आत्मशक्ति का परिचय कराता रहता है। ये बाहरी सुख-दुःख तो केवल वासना से उत्पन्न हैं और इसी वासना के कारण यह प्राणी अनिष्ट पदार्थों को भी इष्ट मानता है। जैसे बच्चा साँप को भी खिलाने के लिए पकड़ ले तो वह डस लेता है ऐसे ही यह अज्ञानी इन विषयों को आनन्द पाने के लिए पकड़ता है और यह व्यामोही आत्मा को पतित कर देता है। संसार में कौनसा पदार्थ सारभूत है पवित्र है।

श्लोक-1063

अविश्रान्तमसौ जीवो यथा कामार्थलालसः।

विद्यतेत्र यदि स्वार्थं तथा किं न विमुच्यते॥1063॥

परमार्थस्वार्थीद्वयमपरता में मुक्ति की सिद्ध की अवश्यंभाविता— यह जीव काम और अर्थ की लालसा रखकर विषय भोगों के और धन वैभव के संचय की वाञ्छा रखकर जैसा अधिक परिश्रम करता है, यदि कुछ थोड़ा बहुत भी परिश्रम आत्मा के हित के लिए करे तो क्या कर्मों से छूट नहीं सकता? पद्म पुराण में बताया है

कि राम रावण के युद्ध के प्रसंग में— जब रावण बहुरूपिणी विद्या साधने के लिए शान्तिनाथ भगवान के मन्दिर में ध्यान करने बैठ गया उस समय कुछ मन चले लोग रावण की विद्या साधना में बाधा देने लगे। रावण शान्तचित्त होकर अपनी साधना में बना रहा। कवि उस प्रसंग में यह कहता है कि जैसे रावण ने बहुरूपिणी विद्या समृद्धि चाहने के लिए एकचित्त होकर ध्यान बनाया था ऐसा ध्यान यदि आत्महित के लिए बनता, मोक्षमार्ग के लिए बनता तो उसे मोक्ष पाना अति सुगम था। और अपने सबके जीवन में देख लो। घर गृहस्थी के काम के लिए यह जीव कितना कष्ट उठा सकता है, सारे कष्ट उठाने की हिम्मत रखता है। रात दिन जब कुछ लाभ जँचा तब ही कहीं चला जाय, बड़े-बड़े शारीरिक परिश्रम करे, बड़े-बड़े कष्ट सहे, दूसरों की बात भी सहे, धर्म धारण कर अनेकों कष्ट यह मनुष्य भोगता है, अपने घर के कामों के लिए अपने विषय साधनों के लिए, लेकिन धर्म मार्ग के लिए रंच कष्ट नहीं सहना चाहता। कितनी ही जगह कुछ लोग ऐसे होते हैं कि मंदिर में देव दर्शन करने तक का भी कष्ट नहीं सह सकते, पड़े लिखे हैं, जानकार हैं, कुछ धर्म की बात भी जानते हैं, पर घर में आदमी कितना कष्ट सह रहे हैं, कितना परिश्रम करते हैं, विपदायें सहते हैं, बातें सहते हैं पर वे विवश होकर सहनी पड़ती हैं, विषयों से प्रीति है उसके लिए सहनी पड़ती हैं। वे सह लेते हैं, पर धर्म के लिए ज्ञानार्जन के लिए कुछ कष्ट नहीं सह सकते। कष्ट क्या? केवल मन की बात। धर्म साधना करना, सत्संग में बैठना, इनमें क्या कष्ट है। मन नहीं लगता इसलिए कष्ट मालूम होता है। वह तो एक आनन्द की चीज है। बड़े प्रसन्न होकर प्रभु के गीत गाये जा। संसार की असारता जानकर और प्रभु पद को ही सर्वोत्कृष्ट मानकर इस सार में दृष्टि लगायें जा वहाँ आनन्द ही आनन्द बरसता है, यदि चित्त लगे तो धर्म में बहुत आनन्द प्राप्त होता है। जब चित्त नहीं लगता तो धर्म की बात बड़ी संकट सी लगती है। एक जगह बैठे रहना मुश्किल हो जाती है जब कि वहाँ कोई चित्त लगने का साधन न हो। हालांकि कष्ट कुछ नहीं है मगर चित्त लगे तब ना? चित्त जहाँलगा हुआ है उस पदार्थ की प्राप्ति के लिए सैकड़ों कष्ट सह सकते हैं। अनादिकाल से तो यह जीव खोटी-खोटी योनियों में उत्पन्न होकर दुःख भोगता चला आया है, पशु पक्षी विकलत्रय कीड़ामकोड़ा आदि की पर्यायों में अनाप-सनाप समय गँवाया। केवल थोड़ी सी गलती के कारण इस संसार में अनादि काल से रुलता चला आया। वह गलती एक इस भव में न करे और अपने विशुद्ध ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व के ध्यान के लिए अपना सर्वस्व लगा दे, इतना साहस इतनी बुद्धि इसमें उत्पन्न नहीं हुई, यह सब बड़े खेद की बात हैं। सबसे बड़ा कष्ट इस बात का मान लें कि मुझमें क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय के भाव उत्पन्न होते हैं। हूँ तो मैं विशाल समुद्र की तरह शान्त और गम्भीर, पर अशान्ति और अस्थिरता बन रही है वह सब कर्मों का फल है, उसे मैं भोग रहा हूँ, खेद इस बात का मानें, हानि इस बात की समझें। बाहरी वैभव की हानि को क्या हानि मानें? ये तो मुझसे पहिले ही भिन्न थे, अब और जुदे हो गए।

ज्ञान में प्रत्याख्यान की सिद्धि का उदाहरण—समयसार में एक दृष्टान्त दिया है कि दो पड़ोसी थे उन्होंने अपनी-अपनी चदर एक धोबी के यहाँ धुलने को दी। दो दिन बाद एक पड़ोसी अपनी चदर लेने गया तो भूल में उस दूसरे की चदर धोबी से ले आया, और घर में चदर तानकर खूब सो गया। कुछ देर बाद में दूसरा पड़ोसी अपनी चदर लेने धोबी के घर पहुँचा। धोबी ने चदर उठाकर दी। उसने उस चदर में अपनी चदर के चिन्ह न पाये तो कहने लगा कि यह तो मेरी चदर नहीं है। धोबी ने कहा ओह ! मालूम होता है कि तुम्हारी चदर अमुक पड़ोसी के पास बदले में पहुँच गयी है। जब वह पड़ोसी के यहाँ अपनी चदर लेने पहुँचा तो देखा कि वह उसी चदर को ताने हुए खूब सो रहा था। उसने चदर का आँचल पकड़कर जगाया और कहा कि भाई जी यह चदर बदल गई है, तुम्हारी नहीं है, यह मेरी है। जब उसने ध्यान देकर देखा तो जान गया कि वास्तव में यह मेरी नहीं है। लो इतना जानते ही उसका उस चदर से मोह हट गया। भले ही अभी देने को इन्कार करे जब तक वह अपनी चदर न पा जाय, पर उसे उस चदर से मोह बिल्कुल नहीं रहा। और फिर दे भी दे, चाहे थोड़ा झगड़ा भी करे पर उसका उस चदर से मोह छूट गया। इसी तरह ये क्रोधादिक कषायें विषयों के भाव नानाप्रकार के विकार, इज्जत की चाह ये सब परभाव हैं। हमारे गुरुजन बारबार समझाते हैं कि भाई मोह भाव से उठो, ये रागादिक भाव तेरी चीज नहीं हैं, तू इन्हें क्यों अपनाकर सो रहा है? तू खूब अच्छी तरह पहिचान ले। तो बारबार समझाने पर यह ज्ञानी पुरुष अपने अन्तरङ्ग में निरखता है कि इन कषायों में मेरा कोई चिन्ह तो विदित होता नहीं। मैं हूँ ज्ञानस्वरूप और कषायें हैं अज्ञान। तैं हूँ आनन्द स्वरूप और कषायों में पडा हुआ है दुःख। तो मैं इन कषायों रूप नहीं हूँ, ऐसा जब अपने को निरखता है और उन कषायों में अपने आपका चिन्ह नहीं पाता है तो देख लो ऐसा निरखने के साथ ही उन विकारों से इसका मोह तो मिट गया ना। भले ही इन परिस्थितियोंवश क्रोधादिक करने पड़रहे हों, मगर उन कषायों में अब आत्मीयता नहीं रही, उनको अपना नहीं मानता। तो जब यह जीव अपने आपके शुद्ध चमत्कार को जब पहिचान जाता है तब इसे अपने आत्मा का परिचय प्राप्त होता है, अपने आपको सामर्थ्य का अनुभव होने से इन विषयों की आशा नहीं जगती। आशा के ही वश यह जीव ठगाया गया।

आशावशता में ज्ञाननिधि का तिरस्कार— यद्यपि यह जीव सिद्ध प्रभु के समान है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द का स्वामी है लेकिन आशा के वश होकर इसने अपना ज्ञान खो दिया और भिखारी बना, अज्ञानी बना विषयों की आशा में रहकर यत्र-तत्र डोलता रहता है। अपने आपकी सामर्थ्य का परिचय होने से ये सब विडम्बनाएँ दूर हो जाती हैं क्योंकि इस ज्ञान की परिस्थिति से समग्र परवस्तुओं की उपेक्षा हो जाती है और अपने आपके स्वरूप में रुचि जगती है। आत्मकल्याण के लिए यह आवश्यक कर्तव्य है कि हम अपने आपके स्वरूप का सच्चा ज्ञान करें और सन्तोष करें, अपने आपमें ही बसकर इस वैभव के पीछे न पड़ें। यह पुण्य पाप के अनुसार थोड़े से परिश्रम से बराबर हिसाब से आता रहता है। अब जितना

आये जितना मिले उतने में ही अपने गुजारे का साधन बनायें और बाकी समय श्रम ज्ञान चित् एक शुद्ध ज्ञान के अनुभव के लिए जगायें। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ ऐसा बार-बार अनुभव करें। शरीर जैसा है सो ठीक है, निरोग है, रोगी है, निर्बल है, सबल है, जो हो सो ठीक है। पर यह मैं आत्मा तो सदा शाश्वत ज्ञानरूप हूँ और आनन्दस्वरूप हूँ, ऐसा ज्ञानानन्दमात्र अपने आपका अनुभव करना यह ही अपने हित का उपाय है। यह मैं अपने आपके स्वरूप को भूलकर जब पर विषयों में प्रीति जगाता हूँतो वहाँ क्लेश उत्पन्न होता है। स्वरूप से देखो तो मैं आनन्द का पूर्ण स्थान हूँ। इस प्रकार ध्यान के प्रकरण में आत्मा की सामर्थ्य का परिचय करना बहुत आवश्यक है।

श्लोक-1064

अथ कैश्चिद्यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इयष्टावङ्गानि योगस्य स्थानानि॥1064॥

यमनियमनामक दो योगाङ्गों का निर्देशन— ध्यान का योग से अधिक सम्बंध है। योग का अर्थ है अन्य जगह चित्त न ले जाकर जो मुख्य विषय आत्मतत्त्व है वहाँ ही उपयोग को छोड़ देना इसका नाम है योग लेकिन कुछ अन्य सिद्धान्त वाले योग के 8 अंग यों बोलते हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम नाम है यावत् जीव किसी त्याग के करने को। यद्यपि यम भी वास्तविक अंग है ध्यान सिद्धि के लिए आत्मलाभ के लिए, लेकिन जब केवल यम शब्द से बाहरी चीजों के त्याग की ही बात रह जाती है तो वह ध्यान का साधक नहीं है यावत् जीव भी किसी वस्तु का त्याग कर दे लेकिन भीतर में यथार्थ निर्णय न हो, आत्मध्यान का लक्ष्य न हो तो यावत् जीव बाह्य वस्तु का त्याग करने से भी बनता क्या है? और ज्ञान सही है, दृष्टि निर्मल है, लक्ष्य का पता पाड़लिया है तो यम उसके लिए साधक है क्योंकि बाह्य पदार्थ का सम्बंध रहेगा तो किसी न किसी प्रकार की चिन्ता ममता प्रीति कुछ न कुछ होगी अन्यथा बाह्य का सम्बंध ही क्यों रहता? इसलिए बाह्य वस्तुओं का यावत् जीवन त्याग करना यम है और यह आवश्यक है, पर मूल में तत्त्वज्ञान बहुत आवश्यक है। दूसरा अंग बतलाते हैं नियम। कुछ समय की मर्यादा लेकर बाह्य वस्तुओं का त्याग करना नियम कहलाता है। जैसे कुछ लोग नियम ले लेते हैं कि भोजन करने के बाद अब 12 घंटे का त्याग है अथवा 24 घंटे का त्याग है, या अन्य-अन्य प्रकार के जो मर्यादा रखकर त्याग किये जाते हैं उन्हें नियम कहते हैं। नियम भी अध्यात्मयोग में साधक कारण है लेकिन तत्त्वज्ञान जिसके हो उसे नियम भी लाभ पहुँचायेगा। और, जिसकी दृष्टि केवल ऊपरी ही है कि भोजन का त्याग कर देने से सुख मिलता, स्वर्ग मिलता है ऐसी बाहरी दृष्टि ही हो और अपने लक्ष्य का पता न हो कि हमें क्या करना है तो ये नियम भी

मोक्षमार्ग में साधक नहीं बन पाते। साध्य का अवश्य पता होना चाहिए। मुझे क्या होना है, मैं आत्मा अपने आपके सत्त्व की ओरसे केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। कर्म, शरीर, विकार, तरंग कुछ भी इसके स्वरूप में नहीं हैं। उपाधि पाकर ये सब परिणमन होते हैं, मुझे अपने सही स्वरूप में रहना है। जैसा मैं अपने सत्त्व के कारण से होऊँ वैसा ही रहता आता रहूँ। मुझे अन्य औपाधिक चीजों से, विभावों से, परिकरों से कोई प्रयोजन नहीं। यों एक सहज अंतस्तत्त्व की दृष्टि बने, मैं केवल ज्ञानमात्र ही रहना चाहता हूँ ऐसा लक्ष्य बने तो मेरे लिए यम भी साधक है और नियम भी साधक है।

आसननामक योगाङ्गों का निर्देशन—तीसरा अंग है आसन। देखा होगा किसी पुरुष को किसी वस्तु से राग हो गया हो जिस वस्तु को पाना अपने आधीन नहीं है, विवशता है तो ऐसी वस्तु पर जिसका चित्त डिग गया तो वह अस्थिर रहता है। एक जगह बैठ नहीं सकता। स्थिर आसन से बैठेगा क्या? एक जगह नहीं रह सकता। बल्कि बावलों की भाँति यहाँ से वहाँ यों डोलता रहता है तो जब किसी परवस्तु में राग विशेष हो तो वह विश्राम से बैठ भी नहीं सकता। तो यों ही समझिये कि जब तत्त्वज्ञान न हो यथार्थ वैराग्य न हो तो वह आसन भी स्थिरता से लगा नहीं सकता। स्थिर आसन लगाने से ध्यान को बड़ी मदद मिलती है और आसन में भी देख लो कितना अद्भुत प्रभाव है कि आसन से बैठने पर कुछ ऐसा शरीर का नियंत्रण रहता है कि वहाँ चित्त में शुद्धि होने का बड़ा अवकाश है, और और ढंग से बैठे हों ध्यान के लिए तो उसमें इतनी स्थिरता का अवकाश नहीं मिलता, प्रयोग करके देख लो। आसन से बैठने पर और अन्य ढंगों से बैठने पर बड़ा अन्तर आता है। जब पद्मासन से बैठते हैं शान्त मुद्रा में तो उस काल में भीतर में कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता है कि जिसके बाद से रागादिक विकारों को मलिन भावों को दूर करने का अवकाश मिलता है। यों ध्यान की साधना में आसन का भी महत्त्व है मगर जिसे तत्त्वज्ञान जगा हो, जिसने अपने लक्ष्य का पता पाड़ लिया हो मैं आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप सबसे न्यारा परिपूर्ण और दर्शन स्वभावी हूँ। मुझे केवल खालिस रहना है। मुझमें दूसरी चीज का सम्बंध न रहे यह लक्ष्य जिसका बन गया उसके लिए आत्मसाधनों में यह आसन भी साधक है। तत्त्वज्ञान बिना उन क्रियाओं को कर लेने से जिनको तत्त्वज्ञानी किया करता है तत्त्वज्ञान न होने पर बाहरी क्रिया मात्र से सिद्धि न हो जायगी। मूल तत्त्व क्या है उस ध्यान के प्रसंग में इसका परिचय होना ही चाहिए। जैसे जाड़े के दिनों में कभी आप लोग आग से तापकर जाड़ा मिटाते हैं। यहाँ वहाँ से ईंधन बटोरा उसमें आग लगाया। उसे फूँका, आग जला ली हाथ पसारकर बैठ गये और ठंड मिटा लिया। इसी बात को बंदर भी देखते रहते हैं और वे बन्दर दूसरे दिन यदि नकल करने लगे कि हमारी ही तरह के हाथ पैर तो इन मनुष्यों के भी हैं, ये तो जाड़ा मिटा लेते है हम क्यों न जाड़ा मिटा लें। सो इधर उधर से लकड़ियाँ बीनकर ईंधन जोड़ सकते है, जोड़ लिया जिस पर वे सोचने लगे कि ईंधन तो जोड़लिया ठंड तो मिटती नहीं। तो कोई बन्दर यह राय देता है कि ईंधन तो बटोर लिया पर इसमें मूल चीज तो डाला ही नहीं। तो उस समय

बहुत सा पटबीजना उड रही थी। उनको पकड़कर उस ईंधन में झोंकने लगे। इतना कर लेने के बाद भी ठंड न मिटी। तो कुछ बन्दरों ने राय दी कि लाल चीज भी डाल दी मगर अभी फूँका तो नहीं है। सब बंदरों ने फूँका भी लेकिन अपनी ठंड न मिटा सके। कुछ बंदरों ने फिर राय दी कि अभी हाथ पैर पसारकर बैठे तो नहीं जैसे मनुष्य बैठे थे, ठंड कैसे मिटे? सो वे हाथ पैर पसारकर बैठ गए फिर भी वे अपनी ठंड न मिटा सके। अरे परिश्रम तो सारा कर डाला पर जो मूल तत्त्व हैं आग उसका परिचय नहीं है तो ठंड कैसे मिटे? इसी प्रकार धर्म धारण करने के लिए सारी बातें लोग प्रायः कर डालते हैं। दर्शन, ध्यान, जाप, स्वाध्याय, तपश्चरण, इन्द्रिय-संयम, जीवदया, सब कुछ करने के बाद भी फिर जहाँ के तहाँ अपने को पाते हैं। वे ही विकल्प, वे ही क्लेश, वे ही झंझट और और बढ़ गए। क्या मामला हो गया? अरे मामला क्या हुआ? धर्म पालन करने का जो मूल आधार है अपने आपके स्वरूप का परिचय वह भर नहीं है बाकी सब हो गया है। तो ये जो योग के अंग हैं ये अध्यात्म अनुभव के साधक तो हैं बाहरी मगर जिसे यथार्थ निर्णय हो उस ज्ञानी को साधक है। तब मुख्य अंग क्या हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

प्राणायाम व प्रत्याहार नाम के योगाङ्गों का निर्देशन— योग के अंगों में चौथा अंग बताया है प्राणायाम। प्राणायाम एक ऐसी क्रिया है नाक से हवा को ग्रहण करना और फिर पेट में उसे रोकना, थोड़ी देर बाद नाक से हवा फेंकना, इसका नाम है प्राणायाम। जो जितनी देर तक हवा को अपने उदर में रोक सके वह उतना प्राणायाम का अभ्यासी समझिये। इनका नाम है पूरक, कुम्भक और रेचक। और, अनेक-अनेक विधियाँ हैं। जैसे बायें नाक से हवा खींचना उदर में भरना और दाहिनी नाक से हवा निकालना, दाहिनी नाक से हवा खींचना, उदर में भरना और बाई नाक से हवा बाहर निकालना, दोनों नाकों से हवा खींचना, उदर में भरना और फिर दोनों नाकों से हवा बाहर निकालना। इन प्राणायामों से चित्त स्थिर होता है। तो प्राणायाम भी आत्मसाधना में एक बाह्य साधन है और तत्त्वज्ञान हो, हमें कहाँ जाना है, क्या करना है, कहाँ देखना है, इसका पता हो तो ये बाहरी साधन भी ठीक हैं, पर ये मुख्य अंग नहीं हैं। अध्यात्मयोगी के मुख्य अंग जो हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। 5 वां अंग बताया है प्रत्याहार। प्रत्याहार का अर्थ है कोई विग्रह ले लेना, परिग्रह ग्रहण करना। अमुक समय तक अमुक दिन तक हमारा इतनी बात का नियम है, यह प्रत्याहार है। जैसे कि पहिले समय में लो। नियम ले लेते थे कि हम अमुक ग्रन्थ का स्वाध्याय शुरू कर रहे हैं, जब तक हम इसको समाप्त न कर लें तब तक हमारा अमुक वस्तु का त्याग है। तो ऐसे जो बाह्य विधान हैं वे मात्र एक साधारण साधन हैं। अध्यात्मयोग का मुख्य साधन तो आत्मनिर्णय है। आत्मदर्शन और आत्मा में चित्त को लीन करना ये हैं अध्यात्मयोग के मुख्य साधन। यह सब ध्यान की बात चल रही है। जो कल्याणार्थी जन हैं वे ध्यान की बात बहुत जानना चाहते हैं। कौनसे ऐसे उपाय हैं जिन विधियों से अपना ध्यान ठीक बना सके? ध्यान में तो सभी जीव रहा करते हैं। ध्यान बिना कौन जीव है? पर किसी के आर्त ध्यान है, किसी के

रौद्रध्यान है। धर्मध्यान बने तो उसकी तारीफ है और शुक्लध्यान तो उसका फल है। तो उन खोटे ध्यानों से जीव को आकुलता रहती है। तो आकुलता दूर हुए बिना कोई ध्यान बने इसकी खोज में कल्याणार्थी जन रहते हैं। इस ग्रन्थ में उस ही ध्यान की बात बड़े विस्तार से कही गई है और सारभूत बात इतनी बतायी है कि ध्यान की सफलता चाहते हो तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप आचरण करो और वह भी निश्चय से निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र रूप परिणमन करो। अपने आपके अमूर्त शुद्ध ज्ञायकस्वरूप को जानना, उसका अनुभव करना और इस ही आत्मा में अपने चित्त को डुबोना यह करने योग्य बात है। ऐसा करने के लिए व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का भी प्रयोग कर रहे हैं, पर मूल बात तो सब अपने आपके आत्मा में है।

धारणा, ध्यान, समाधि नाम के योगाङ्गों का निर्देशन— हम आप में कोई भी जीव दुःखी नहीं है, अपना ज्ञान ठीक बना लीजिए, उपयोग बदल लीजिए, सत्यस्वरूप समझ लीजिए। जब यह मैं शरीर से भी न्यारा केवल अपने ज्ञानानन्द आदिक गुणोरूप हूँ, अन्य से इसका स्पर्श भी नहीं है, सम्बंध भी नहीं है तब इस परिपूर्ण चैतन्य ब्रह्म को दुःख क्या रहा? दुःख हम बनाते हैं। अपने स्वरूप में चित्त न जोड़कर बाहरी-बाहरी पदार्थों में ममता बनाते हैं और अपने को दुःखी करते रहते हैं। योग के अंग में लोगों ने छठवां अंग बताया है धारणा। किसी चीज की धारणा करना, उस ओरदृष्टि रखना, योग जोड़ना सो धारणा है। ठीक है, अपने आपके मोक्षमार्ग का सही लक्ष्य बनकर धारणा बनावे वह तो युक्त है, किन्तु लक्ष्य का भाव न करके केवल विधियों की धारणा बनाने से तो मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती। 7 वां अंग है ध्यान। एक ओरचित्त को रोकना इसका नाम ध्यान है। इसके लिए लोग अनेक उपाय करते हैं। सामने कुछ देर भीत पर ओम् लिख लिया या एक भीत पर कोई गोल चिन्ह बना लिया, उस ही ओर टकटकी लगाकर देखते रहना, यों देखने का साक्षात् प्रभाव यह हो जाता है कि वहाँ चित्त जम जाता है, बाहरी जगहों में चित्त नहीं रहा, इतनी बात बन तो जाती है। उस शून्य को टकटकी लगाकर देखना चित्त को एक ओर रोकने का साधन मात्र है, मगर ऐसा लक्ष्य ढूँढ़ लें जिसकी ओर चित्त लगाने से एकाग्रता भी बने और तत्काल आत्मलाभ भी होता रहे। वह लक्ष्य है अपने आपमें यह परमज्योतिस्वरूप। 8 वां अंग बताया है समाधि। समाधि का मूल मर्म तो है रागद्वेष न करके समतापरिणाम रखना। मगर रूढ़ अर्थ यह हो गया कि नाक मुँह को बंद करके अथवा कहीं पृथ्वी के भीतर बैठकर ऊपर से मिट्टी वगैरह डाल दी, कहीं श्वास लेने को जगह न रहे ऐसी स्थिति में एक आध दिन बने रहे तो इसको लोग महत्त्व देने लगे हैं, और इसे समाधि कहने लगे हैं, पर यह समाधि तो प्राणायाम में ही शामिल हो गयी। समाधि तो रागद्वेष न करके समतापरिणाम रखने का नाम है, वह समाधि तत्त्वज्ञानी के प्रकट होती है। तो इस योग के अंग में बाह्य साधनपना तो है, पर तत्त्वज्ञान हो, लक्ष्य सही हो

तो ये सब बाह्य साधन बनते हैं, इस तरह कुछ लोग योग के साधन 8 प्रकार के कहते हैं, कुछ लोग 6 प्रकार के ही साधन बताते हैं।

श्लोक-1065

तथान्यैर्यमनियमावपास्यासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः इति षट्॥1065॥

कुछ साधकों का योग की षडङ्गता का अभिमत— कुछ लोग योग के अंगों को 6 बतलाते हैं कि आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, इनका स्वरूप वैसा ही है। उन्होंने यम और नियम को महत्त्व नहीं दिया है। कुछ लोग योगसिद्धि के उपाय में बतलाते हैं।

श्लोक-1066

उत्साहान्निश्चयाद्वैयत्सिंतोषात्तत्त्वदर्शनात्।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्धयति॥1066॥

योग के प्रसाधक छह उपायों की चर्चा—यहाँ वे 6 योग बतलाते हैं जिससे अध्यात्म की सिद्धि होती है। वे 6 क्या हैं? उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्वदर्शन और देश का त्याग। इन 6 बातों से अध्यात्मयोग की सिद्धि बताते हैं। यद्यपि ये सब बाह्य साधन हैं, इनमें भी कुछ तत्त्व है पर इन सबकी प्रतिष्ठा तब है जब तत्त्वज्ञान बने। उत्साह का अर्थ सब जानते हैं कि उस कार्य के लिए ध्यान के लिए एक उत्साह उमंग बनी रहना। जैसे कोई दूकान करता है तो दूकान के कार्यों में रुचि उत्साह रहता है। आज इतना लाभ हुआ है। तो जैसे अपने इस इष्ट कार्य में लोग उत्साह रखते हैं इसी तरह ज्ञानी मुमुक्षुजन अपने आत्मतत्त्व के कार्यों में उत्साह रखते हैं। हमने आज अपनी इन्द्रिय पर इतनी विजय किया, हमने अपने लक्ष्य पर इतनी सफलता पायी, अब इससे और अधिक होना चाहिए, इस तरह आत्मकार्यों में उत्साह रखते हैं। इस उत्साह को योग का अंग मानते हैं। दूसरा अंग है निश्चय। किसी भी बात का दृढ़ निश्चय हो इसे हम करेंगे, करके रहेंगे, हटेंगे नहीं, इस प्रकार का निश्चय हो तो वह भी योग का अंग है। उससे भी अध्यात्मसाधना बनती है। दूसरी बात है

धैर्य। सिद्धि में विलम्ब हो रहा है, कुछ लाभ तुरन्त नहीं मालूम पड़ रहा है पर गुरु के नियंत्रण में रहकर उन-उन विधियों की साधना की जा रही है, त्याग नियम तपश्चरण किया जा रहा है पर ?ल कुछ नहीं मिल रहा है, उस समय धैर्य रखे, कभी भी मिले अथवा मुझे फल क्या चाहिए? जो बतला रहे हैं उस साधना को करते हैं। वह साधना हमारे निर्दोष बने, ऐसा धैर्य रखे तो यह योग का अंग है। चौथी बात है सन्तोष। सन्तोष होना चाहिए, किसी बात की तृष्णा न जगे। किसी भी वस्तु के प्रति तृष्णा न जगे, तृष्णारहित सन्तोष वृत्ति से रहना चाहिए। 5 वीं बात है तत्त्वदर्शन। जो वस्तु का स्वरूप है वह दृष्टि में आये इसे कहते हैं तत्त्वदर्शन। जो वस्तु का स्वरूप है वह दृष्टि में आये इसे कहते हैं तत्त्वदर्शन। जिसने जिसे तत्त्व माना है— जैन सिद्धान्त ने तत्त्व माना है वस्तु के स्वभाव को। प्रत्येक वस्तु में उसमें उसके कारण जो स्वभाव पाया जाता है वह उस वस्तु का तत्त्व है। उस तत्त्व का दर्शन करना यह योग का अंग है। और, छठी बात बताया है देश का त्याग। जिस गाँव में जन्मे हैं, जिस असफेर में सम्बंध है इस शरीर का अब जनपद का उस कस्बे का त्याग करना देशत्याग है। इसमें भी मर्म है, एक तो जिस गाँव में रह रहे हैं उसमें नुराना परिचय है। लोगों से मित्रता थी, रागी की परम्परा चल रही थी। एक तो यह बात है कि वासना मिट न पायेगी, दूसरी बात यह है कि लोगों का व्यवहार उस संन्यासी के प्रति पहिले जैसा ही रहेगा। तो उनके उस रागभरे व्यवहार से उसके चित्त में विशुद्धि नहीं जग सकती, उत्साह नहीं जग सकता। तो यह भी उसका अलाभ है, यों समझिये कि सभी उसका अलाभ हैं। जिस गाँव में जन्मे हों, रहते हों उस गाँव का त्याग करना यह योग के अंग में बताया गया है। यह सब आत्मसाधना करने वालों के लिए एक आवश्यक बात है। इस प्रकार कुछ लोग इन 6 प्रकारों से योग की साधना बताते हैं तो कोई कहते हैं—

श्लोक-1067

एतान्येवाहुः केचिच्च मनःस्थैर्याय शुद्धये।
तस्मिन् स्थिरीकृते साक्षात् स्वार्थसिद्धिर्ध्रुवं भवेत्॥1067॥

मनःस्थिरता के लिये योगाङ्गों के निर्देशन का अभिमत— जो यम आदिक बताये गए हैं सो मन को स्थिर करने के लिए, मन की शुद्धता के लिए कहे हैं। मन के स्थिर होने से ही साक्षात् सिद्धि होती है। इनके मत से जो कुछ बने बन जाय, न बने न सही, केवल अंग एक ही है। मन में स्थिर कर लेना, इस प्रकार लोग अध्यात्मयोग की साधना में अनेक-अनेक उपाय बताते हैं। जैनशासन ने सर्वप्रथम ही यह बता दिया कि अध्यात्मयोग की साधना अथवा विशुद्ध ध्यान कहो उसके अंग ये तीन ही हैं:— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

सम्यक्चारित्र। इसका निरूपण बहुत विस्तार से इस ग्रन्थ में पहिले किया गया है, जिसका भाव यह है कि अपने को सहज ज्ञानस्वरूप मानते रहें और ऐसी ही दृष्टि जगाना, ऐसा ही अपना उपयोग बनाना, उसमें ही चित्त को लीन करना, इसके लिए व्रततपश्चरण यम नियम एक स्थान पर रहना, आसन से रहना जो-जो भी योग हों वे सब किए जायें, पर मूल अंग तो यह रत्नमय ही है। यों रत्नमय की दृष्टि रखकर उसके लिए यत्न करते हुए जो मुमुक्षु बाहरी रागद्वेष के प्रपंचों में ही नहीं पड़ते हैं वे अपने आपमें अपने आपकी प्रभुता के दर्शन कर लें और नरजीवन पाने का एक यह ही सदुपयोग है कि हम अपने आत्मा का परिचय बनायें और इतना स्पष्ट निर्णय बनायें कि जब हम चाहे अनेक बार अपने आत्मस्वरूप की ओर आ सकें और इसके निकट बसकर प्रसन्नता से समय बिता सकें।

श्लोक-1068

यमादिषु कृताभ्यासो निःसंगो निर्ममो मुनिः।
रागादिक्लेशनिर्मुक्तं करोति स्ववशं मनः॥1068॥

यमादिक में कृताभ्यास योगियों के मन की स्ववशता व क्लेशनिर्मुक्तता— जिस योगी ने यम, नियम आदिक में अभ्यास किया है, परिग्रह और ममता से जो रहित हैं ऐसे योगी ही अपने मन को रागादिक से दूर कर अपने वश में करते हैं। यम नियम आदिक का ऐसा साधन है कि जिससे यम में रागादिक नहीं उठते और यम स्ववश बन जाता है, क्योंकि इन नियमों में परवस्तुओं का त्याग है और जहाँपरवस्तुओं में बाह्य वस्तुओं का त्याग कर दिया तो विकल्प उठने का आधार त्याग दिया। तो आधार त्याग देने पर यद्यपि यह नियम तो नहीं है कि विकल्प उठे नहीं। न भी चीज हो और विकल्प करे तो कर भी सकता है, मगर प्रायः ऐसा सम्बंध है कि जब उस आधार का परित्याग कर दिया, विषयों का त्याग कर दिया तो यह मन कब तक रागादिक करेगा? अन्त में छोड़ेगा। जैसे घर का त्याग कर दिया। अब घर में कैसी स्थिति है, क्या आमदनी है, क्या परिस्थिति है, लोग किस तरह रह रहे हैं ये सब विकल्प फिर भी उठ सकते हैं, लेकिन जब घर त्याग दिया तो कितने दिन चलेंगे विकल्प? जो कर्म छूट गए तो बहुत दिन चलकर वे खतम हो जायेंगे। विकल्पों का आश्रय तो बाहरी पदार्थ हैं वे ही नोकर्म हैं। उन नोकर्मों को त्याग दिया तो ये विकल्प कब तक रहेंगे? ये तो मिट जायेंगे। और यदि रागविकल्प न छोड़े तो इतनी वेदना होगी कि उस पदवी को त्यागकर गृहस्थी में लग जायगा, पर परित्याग कर देने के बाद फैसला एक ही तरफ होगा। या तो वह फिर उस पदवी को छोड़कर घर में आयगा या अपने को निर्मल बनायेगा। बीच वाली बात कब तक निभेगी? तो यह यम और नियम के

अभ्यास से लाभ तो है कि मन स्थिर हो जाता है, पर इसके साथ-साथ ज्ञानसाधना और तत्त्वज्ञान बने तो इसको मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है।

श्लोक-1069

अष्टावङ्गानि योगस्य यान्युक्तान्यार्यसूरिभिः।
चित्तप्रसत्तिमार्गेण बीजं स्युस्तानि मुक्तये॥1069॥

योगाङ्गों की उपयोगिता— योग के जो 8 अंग पूर्व आचार्यों ने बताये हैं वे चित्त की प्रसन्नता के अर्थ हैं। मन निर्मल बने, मन की एकाग्रता हो इसके लिए हे वह और चूँकि वे यम नियम आदिक चित्त की निर्मलता के कारण हैं और चित्त की निर्मलता हो तो रत्नत्रय की ओर उपयोग चले, इस कारण वे परमगत मुक्ति के भी कारण बन गए हैं। जैसे एक बार बालगंगाधर तिलक भाषण में कह रहे थे कि लोग कहते हैं कि गंगा के स्नान करने से मुक्ति होती है, पर इसका सीधा अर्थ यह नहीं है कि कपड़े निकाला, गंगा में डुबकी लगाकर स्नान किया, लो पाप धुल गए, मुक्ति मिल गयी, पर इसका अर्थ यह है कि दिन भर गंगा स्नान करने से शरीर का मल हट जाता है, शरीर कुछ हल्का हो जाता है, चित्त में कुछ प्रसन्नता हो जाती है, शरीर में स्फूर्ति आती है। ऐसे समय में कोई ध्यान करे तो उसके ध्यान बना करता है। यों गंगास्नान से मुक्ति मान लेने पर मुक्ति ध्यान से है पर ध्यान के जगने में कारण है स्नान। इस तरह ये जो यम नियम बताये हैं ये मुक्ति के कारण हैं, यों सीधा मुक्ति का कारण तो आत्मा का परमध्यान है। पर यम नियम आदिक करने से ऐसा वातावरण बनता है। ऐसी चित्त में निर्मलता जगती है कि यह आत्मा का परमध्यान कर सकता है। इस तरह ये कारणभूत बन गए, पर मुक्ति का साक्षात् कारण तो रत्नमय ही है। और इसी तरह हमारे जितने भी व्यवहारधर्म होते हैं ये व्यवहारधर्म भी सीधे मोक्ष के कारण नहीं हैं। मोक्ष का सीधा कारण तो आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमण है। पर हमारा वह व्यवहारधर्म पूजा पाठ, जाप, सामायिक, स्वाध्याय, सत्संग ये हमारे चित्त की प्रसन्नता के कारण हैं और हमारे आत्मस्वरूप की याद दिलाने के कारण हैं। यहाँ तक तो हमारा काम बना व्यवहारधर्म से, इसके बाद फिर हम अपने आप अकेले ही पर की अपेक्षा तजकर स्वयं में बसें तो वह समाधि या विशुद्ध ध्यान प्रकट हो, फिर इससे परव्यवहार की चीज नहीं मिलती। तो यह व्यवहारधर्म है जो परम्परा मुक्ति का कारण है। यह सब इस प्रकार है, साक्षात् नहीं है। तो यों इस अध्यात्म योग के कारणों में जो आठ अंग बताये हैं ये चित्त की निर्मलता के कारण हैं, चित्त के एकाग्र करने के कारण

हैं। और जब चित्त एकाग्र हो सकता है तो वहाँ आत्मा का ज्ञान श्रद्धान और आचरण निश्चय से बन सकता है। यों मुक्ति के कारण होते हैं।

श्लोक-1070

अङ्गान्यष्टावपि प्रायः प्रयोजनवशात् क्वचित्।
उक्तान्यत्रैव तान्युच्चैर्हिदांकुर्वन्तु योगिनः॥1070॥

योगाङ्गों की प्रायः प्रयोजकता— आचार्यदेव कहते हैं कि ये 8 अंग भी जैसे कि अन्य लोगों ने माने हैं वे भी काम के तो हैं और इसी कारण प्रयोजन के अनुसार इस ग्रन्थ में भी कहा गया है। पर कितना प्रयोजन है, साक्षात् कार्यकारी कौन है और साक्षात् कार्यकारी उपायों के मदद देने वाला यह है, इस प्रकार का स्वरूप जानकर उनका उपकार करना चाहिए। अब जैसे यम है, बाह्यवस्तुओं का परिग्रह का सदा के लिए त्याग कर देना, यह अच्छी ही तो बात है, इससे लाभ ही तो है। आत्मध्यान के लिए मौका मिलेगा, यह बात नियम में है। अभी जिसके नियम है कि रात को पानी नहीं पीना है, तो कैसी ही गर्मी हो उनको रात्रि में प्यास की बाधा नहीं होती है और जितनी थोड़ी बहुत होती है ओंठ सूखे से रहते हैं उतनी बाधा तो रात को पानी पीने वालों को भी रहती है। तो बाधा करने की डोर भावों से लगी है, त्याग नहीं है, आशा है, इच्छा है तो प्यास लगती रहेगी। जिस चीज का परिहार कर दे तो उसकी आशा, वासना चित्त में नहीं रहती और इसी कारण उनके भावों में निर्मलता प्रकट हो सकती है। तो ये व्रत, त्याग आदि बेकार नहीं हैं, लाभदायक हैं पर इनसे लाभ कितना है और असली लाभ किससे होता है? इसका सही ज्ञान होना चाहिए। आत्मा का वास्तविक लाभ है तत्त्वज्ञान से और तत्त्वज्ञान में दृढ़ता से जम जाने से और इस बात में मदद मिलती है त्याग व्रत आदिक से तो ये त्याग व्रत आदिक हमारे यों कल्याण के कारण बनते हैं। जो जिस प्रकार से कल्याण में हेतुभूत हो सकता है उसको उस प्रकार से जान लेना चाहिए, नहीं तो कोई पुरुष व्यवहार को ही निश्चय मान बैठे तो व्यवहार के काम में ही संतुष्ट हो जाय, ऊपरी देह साधना करके उपवास आदिक करके अपने आप को मान लें कि हम तो पूरे धर्मात्मा हो गए तो उससे काम तो नहीं बनने का। तत्त्वज्ञान बिना आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता, पर ऐसी जितनी बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ हैं वे सब भावों की हैं, चीज की नहीं हैं। कोई पुरुष 10 हजार धन में बड़ा संतुष्ट है कोई पुरुष 10 लाख धन में भी खुश नहीं है, तृष्णा लगाये है। तो यों ही समझिये कि इस जीव को जो भी विपत्तियाँ होती हैं वे भावों के कारण होती हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञावों का भाव, और ऐसे इस जीव को परेशानीक्या होती है? अन्यथा सभी मनुष्य ज्यादा

से ज्यादा मान लो अपने-अपने शरीर के भीतर हैं और मेरे में ही मेरी सारी दुनिया है। जो कुछ कर सकता है वह सब अपने आत्मा के प्रदेशों में ही कर सकता है। इससे आगे और कुछ लेनदेन नहीं है। फिर बाहरी पदार्थों से विपत्ति क्या? वैभव रहे न रहे, उससे क्या विपत्ति है? विपत्ति सारी लगा रखी है भावों से। तो भावों की विपत्ति को मिटाने का कारण भी भाव ही बनेगा। भाव से ही विपत्ति मिली है और भाव से ही विपत्ति मिटेगी। जब यह तत्त्वज्ञान जग जाय कि यह मैं आत्मा अपने ज्ञान और आनन्द रूप हूँ, इसमें किसी परभाव का, परपदार्थ का प्रवेश नहीं है— यों इसका भाव बन जाय फिर इसे क्या परेशानी? कहाँ दुःख रहा? तो दुःख मिटता है अपने ज्ञान की सम्हाल से। ज्ञान की सम्हाल जिसके न रही तो उसे दुःख होता है। चाहे वहाँ करोड़पति राजा महाराजा महामण्डलेश्वर भी क्यों न हो। तो उन भावों को फेरने के लिए जो सहायक भाव हैं ये 8 अंग काम के हैं यम नियम आदिक।

योगाङ्गों की कवचरूपता— यम नियम आदिक ये ढाल का काम करते हैं शास्त्र का काम नहीं करते जैसे कोई योद्धा युद्ध में ढाल रखता है वह ढाल किसी को मारने के काम नहीं आती बल्कि दूसरों के बाण शस्त्र को रोकने के काम आती है। दूसरे के शस्त्र से अपनी रक्षा करने के काम आती है। तो ढाल का काम इतना है कि उस वीर पुरुष को इस योग्य बनाये रहे कि दूसरे के शस्त्र से लड़ सके और शत्रु का घात कर सके। शत्रु को मारने का काम ढाल नहीं करती। ऐसे ही हमारे जितने व्यवहारधर्म हैं, यम नियम आदिक हैं वे ढाल का काम करते हैं और शस्त्र का काम करता है तत्त्वज्ञान, वैराग्य, रत्नत्रय। इसका अर्थ यह है कि कर्मों को, रागादिक बैरियों को नष्ट करना है तो रागादिक बैरियों का घात ये यम नियम आदिक तो नहीं करते। इन कर्मकलंकों का विनाश ये व्यवहारधर्म तो नहीं करते, उन कर्मों का विनाश तो आत्मा के शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का अनुभव करना है। आत्मा के शुद्ध ज्ञानस्वरूप का अनुभव जगे तो उससे रागादिक विकार ज्ञानावरणादिक कर्म ये नष्ट होते हैं। तो रागादिक बैरियों का नाश करने के लिए शस्त्र का काम किया रत्नत्रयधर्म ने। और इन व्यवहारधर्मों का नियमों का काम क्या है यह कि यह मुझको इस लायक बनाये रखे कि मैं इन रागादिक बैरियों से आत्मानुभव के चक्र को नष्ट कर सकूँ। तो इन व्यवहारधर्मों के प्रताप से हमारी वृत्ति व्यवहारधर्म में नहीं फँस पाती, तब हम इस लायक बन जाते हैं कि हम रत्नत्रय की निश्चय साधना कर सकें। तो ये 8 अंग भी सब प्रयोजन के अनुसार काम के हैं, इसका भी वर्णन इस ग्रन्थ में किया, पर उन सबको उस तरह से जानना चाहिए कि जितना इनका प्रताप है।

श्लोक-1071

मनोरोधे भवेद्द्रुहं विश्वमेव शरीरिभिः।

प्रायोऽसंवृतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः॥1071॥

मनोरोध का महत्त्व— जिसने मन का निरोध किया उसने सबका निरोध किया। सारे विश्व को नियंत्रण में ले लिया। जिसने अपने मन पर नियंत्रण कर लिया उसने सब विश्व पर नियंत्रण कर लिया। जो मन का पापी है उसे सारे विश्व में सब जगह भय है, जो मन का स्वच्छ है उसके लिए जगत में कहीं भी भय का स्थान नहीं है। मुनिराज जंगल में स्वच्छन्द विराजते हैं जहाँ सिंह, हाथी, बाघ, स्याल आदि सभी जीव रहते हैं, वे मुनिराज निर्भय क्यों रहते हैं कि उन्होंने अपने मन को स्वच्छ कर लिया, वे सब जीवों को अपने स्वरूप के समान मानने लगे, निरखने लगे सो निर्भय रहते हैं। हिंसक क्रूर जानवरों के बीच भी और वहाँ रहते हुए कदाचित् कोई जानवर खा भी ले तो वे यों परवाह नहीं करते कि मेरा बिगड़ेगा क्या? मैं आत्मा अपने स्वरूप में हूँ, यहाँ से चला जाऊँगा, दूसरी जगह आनन्द करूँगा। तो जिन्होंने मन पर नियंत्रण किया है उन्होंने समस्त विश्व पर समझिये नियंत्रण कर लिया और जिन्होंने मन को वशीभूत नहीं किया वे इन्द्रिय आदिक को रोकने में समर्थ नहीं हो सकते अथवा वे इन्द्रिय विषयों को रोके भी तो उनका यह काम व्यर्थ है। मन रुक गया तो अन्य-अन्य सब व्यवहारधर्म भी कार्यकारी हैं। लोग कहते हैं मुख में राम बगल में छुरी— यह बाहरी नक्शा है जो धर्म के कार्यों में तो बड़ा दिखावा रखता है और भीतर में क्रोध, मान, माया, लोभ ये तीव्र कषायें जग रही हैं। ऐसे लोग बहुत दिनों तक धर्मसाधना दिखावे के लिए करते रहते हैं और अन्त में उनके कोई ऐसा अनर्थ बन जाता है कि सारी जिन्दगी का किया हुआ सब खराब हो जाता है। तो जिन्होंने मन वश किया है वे ही पुरुष महान् हैं, उपासनीय हैं। उनके चरणों में अपना चित्त सदैव रहे, ऐसी भावना निरन्तर कल्याणार्थी जन किया करते हैं।

मनोरोध का अमोघ उपाय तत्त्वज्ञान— यह मन रुकेगा तत्त्वज्ञान से। प्राणायाम आदिक विधियों से कदाचित् मन को जबरदस्ती रोक भी लिया जाय तो यह मन बड़ी तेजी से फिर ऐसा अपना काम करता है कि फिर यह किसी के रोके भी नहीं रुकता। जैसे नदी के प्रवाह को जबरदस्ती मिट्टी के भीत से रोका जाय तो कुछ समय के लिए भले ही रुक जाय। पर जितना रुका है उतनी ही तेजी के साथ पहिले से भी और तेजप्रवाह के साथ वह फूटेगी और नदी उसमें से बह निकलेगी। तत्त्वज्ञान के बिना मन के नियंत्रण करने का ऐसा हाल होता है। उसका कारण यह है कि मन को कुछ वश में किया, पर वासना ज्यों की त्यों रही। वह वासना भीतर ही भीतर संचित होकर इतने वेग में बन जाती है कि फिर किसी के रोके वासना रुक भी नहीं सकती। जब सीता का चित्र नारद ने भामण्डल के सामने डाल दिया क्रुद्ध होने के कारण तो भामण्डल उसको देखकर मूर्च्छित हुआ और जब नारद ने यह और कह दिया कि यह तो तुम केवल चित्र देखकर आकार देखकर ही मोहित हो रहे हो, पर गुण उसमें इतने हैं कि संसार की किसी भी कन्या में नहीं हैं। तब

भामण्डल तो विवश हो गया, खाना पीना छोड़ दिया, एकदम निर्लज्जता की बातें भी करने लगा, माँपिता सबका लिहाज टूट गया। और जब सुना कि सीता का स्वयंवर तो हो चुका है और राम से बरी गई हैं तब भामण्डल इस विचार से सेना सजाकर चला कि कुछ भी हो सीता को छुड़ाकर लायेंगे। गया, पर रास्ते में एक जंगल मिला जिसमें सीता और भामण्डल की कई पूर्व घटनाएँ हुई थी, वहाँ यह स्मरण हो आया कि वह तो मेरी इस भव की भी बहिन है तब उसका चित्त शान्त हो सका। तो तत्त्वज्ञान के बिना मनके रोकने से मन नहीं रुकता है। कितना ही उस समय लोगों ने मना किया, बहुत से लोगों ने उसके मन को जबरदस्ती रोका भी होगा, पर वासना न रुकी थी। जब ज्ञान हुआ और भीतर में सीता के प्रति विकारभाव दूर हुआ तब मन एकदम वश में हो गया। तो तत्त्वज्ञान हो, सर्व पदार्थों का भिन्न-भिन्न स्वरूप समझ में आये तो ऐसे ज्ञानपूर्वक मन वश में रहता है। मन वश में रहने पर हम अपने को इस योग्य बना सकें कि अपने आत्मा के स्वरूप का ज्ञान दर्शन और आचरण ठीक बनाये रहेंगे।

श्लोक-1072

कलङ्कविलयः साक्षान्मनःशुद्धयैव देहिनाम्।

तस्तिन्नपि समीभूते स्वार्थसिद्धिसदाहृता॥1072॥

मन शुद्धि से कलङ्कविलय— मन शुद्ध हो तो कलंकों का साक्षात् विलय हो जाता है और जीवों का उनका स्वभाव स्वरूप होने से उनके प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है। देखिये मन को गंदा रखने से किसी दूसरे मनुष्य के प्रति ईर्ष्याभाव रखने से, किसी से विरोध रखने से, किसी पाप में अपना चित्त बसाने से मन की अपवित्रता से तो कलंकों की वृद्धि होती है और इस जीव को नफा भी कुछ नहीं होता। जितना स्वच्छ चित्त रहने से मायाचार न करने से, लोगों के प्रति सीधा सत्यसद्व्यवहार रखने से जो इसका जीवन सुखमय व्यतीत होता है वह मायाचार आदिक से तो नहीं हो सकता। प्रथम तो तृष्णा मायाचार आदिक पाप के भावों से खुद ही अप्रसन्न हो जायगा, मलिन बन जायगा, स्वयं ही आत्मा का अनुभव करेगा और फिर भाव जो लोकव्यवहार में बनेगा उससे लोग खिलाफ होंगे और वे अपनी लाठी जुदी बरसायेंगे। तो मन की अपवित्रता से न इस लोक में साधन ठीक बनते हैं और नपरलोक की सिद्धि होती है। इस कारण यह जानकर कि संसार का समस्त समागम असार है, विनाशीक है, मेरे आत्मा से कुछ सम्बंध नहीं है। आत्मा स्वयं परिपूर्ण एक पदार्थ है। मेरा कर्ता, कर्म, क्रिया प्रयोजन सब कुछ अपने आपमें हैं। जब किसी भी पदार्थ का मुझसे कोई सम्बंध नहीं है तो किसी भी विषय पदार्थ के संचय करने में अपना चित्त क्यों लगाऊँ, क्यों भ्रान्त करूँ,

इससे उपेक्षा रखकर आनन्द के भण्डार स्वयं ज्ञानस्वरूप को ही निहारूँ और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ, ऐसी भावना ज्ञानी के है। मन की शुद्धता होने से साक्षात् विकारों का, कलंकों का, कर्मों का विलय हो जाता है और जो शुद्ध मन से रहता है उसके अपने प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि जब मन रागद्वेष रूप नहीं प्रवर्तता है तो वह अपने स्वरूप में लीन हो जाता है। यह आत्मा अपने स्वरूप में लीन हो जाय, मन का विलय हो जाय इससे बढ़कर और समृद्धि क्या है दुनिया में? क्योंकि इस ज्ञानानुभूति के समय में इसे शुद्ध निराकुल आत्मीय उत्कृष्ट पद की प्राप्ति हो जाती है, यह शान्त और आनन्दमय हो जाता है। अब तत्त्वज्ञान का उपाय बनायें और अपने आपके लीन होने का यत्न करें।

श्लोक-1073

चित्तप्रपञ्चजानेकविकारप्रतिबन्धकाः।

प्राप्नुवन्ति नरा नूनं मुक्तिकान्ताकरग्रहम्॥1073॥

विकारप्रतिबन्धक पुरुषों के मुक्तिलाभ का निश्चय— कहते हैं कि चित्त के प्रसार से उत्पन्न हुए जो नाना प्रकार के विकार हैं उन विकारों को जो रोक देता है ऐसा पुरुष नियम से मुक्ति का पात्र होता है। जिसने मन मार लिया, वश कर लिया उसने मोक्षमार्ग की पात्रता प्राप्त कर ली, जिन जीवों की जो आखिरी चीज होती है उसका विषय उनके बहुत तीव्र होता है। दो इन्द्रिय जीवों के जिह्वा है, आखिर उनके रसना की लम्पटता बहुत रहती है। तीन इन्द्रिय जीव चींटा चींटी आदि की तीसरी इन्द्रिय है नाक तो उनके नाक का विषय तीव्र रहता है। वे किसी जगह मिठाई रखी हों तो ढूँढ़कर कहीं पहुँच जायेंगे। उनके आँख नहीं हैं फिर भी आँख वाला चाहे चूक जाय पर उनका निशाना नहीं चूकता। चार इन्द्रिय जीवों के आँख का विषय तेज है, उन्हें बहुत दिखता है और इतना शीघ्र वे देखकर उड जाते हैं कि आप किसी भी मक्खी को पकड़ने के लिए हाथ करें तो उनके निकट से हाथ चला जाय और वे बचकर निकल जायें, इतना उनके आँख का विषय रहता है और जिनके 5 इन्द्रियाँ हैं उनके कान का तीव्र विषय रहता है। पक्षी हैं और जीव हैं उनके कान का विषय तीव्र रहता है। और जिनके मन है, और मनो में भी जो श्रेष्ठ मन वाले हैं वे हुए मनुष्य। इनके मन का विषय बड़ा तीव्र रहता है। यह मनुष्य मन के मारे दुःखी है। उतना इन्द्रिय विषय का दुःख नहीं है मनुष्य को जितना मन का दुःख है। अब मनो में मनो के दो विषय हैं— एक तो दुनिया में यश नामवरी कीर्ति की चाह और दूसरा है मनोज। सो मन के इन दो विकारों से यह मनुष्य परेशान है और यश नामवरी की तो अभिलाषा हो गयी कि सभी मनुष्य जरा-जरासी बातों में अपना अपमान महसूस करने लगते हैं। सम्मान की

इच्छा न हो तो अपमान क्यों महसूस करें? जो लोग ऐसा कहते हैं कि हमारे नामवरी की चाह नहीं है, पर हमारे विरुद्ध जो कह दे वह हमें नहीं सहन होता। अरे हमारे विरुद्ध कोई कह दे तो हमें सहन नहीं होता इसी के मायने हैं कि सम्मान की इच्छा है। सम्मान की इच्छा हुए बिना अपमान सुहावना कैसे लगेगा। तो मन का विषय इन मनुष्यों के अतिप्रबल है। देवों के भी है, नारकियों के भी हैं और पशुपक्षियों के भी है पर यह मनुष्य मन के मारे बेहद दुःखी है अन्यथा बतलावो कि अब मनुष्य दुःखी है, खाने-पहिनने लायक चीज मिल जाती है पर धनी, भिखारी, मूर्ख, पंडित सभी के सभी मन के वश होकर दुःखी हैं। तो जिन्होंने मन मार लिया उन्होंने तो विश्व को जीत लिया है, वे मुक्ति के पात्र हो गए, और जिनका मन वश होता है वे ध्यान के पात्र होते हैं और आत्मध्यान द्वारा ही मुक्ति प्राप्त हुआ करती है।

श्लोक-1074

अतस्तदेव संरुध्य कुरु स्वाधीनमञ्जसा।

यदि छेत्तुं समुद्युक्तस्तवं कर्मनिगडं दृढम्॥1074॥

दृढ कर्मनिगड के छेदन के लिये मनःसरोधन का आदेश—हे आत्मन् ! यदि तू कर्मों की बेड़ी को छेदने के लिए उद्यमी हुआ है तो तू इस मन को ही समस्त विकल्पों से रोककर शीघ्र ही अपने वश में कर। मन को वश में किए बिना कर्मों की बेड़ी छेदी नहीं जा सकती। पुण्य हो अथवा पापहो दोनों ही प्रकार के कर्म बेड़ीरूप हैं। जैसे किसी को जेल हो जाया वह चाहे सोने की बेड़ी पहिन ले और चाहे लोहे की और उसका कमर डंडा लगाकर कस देवे तो दुःख और पराधीनता दोनों में एक जैसी है। दोनों ही बेड़ी पराधीनता के उत्पादक हैं पुण्य और पाप। जिनके पाप का उदय है वे दरिद्रता दीनता आदिक अनेक विकल्पों से दुःखी हैं, जिनके पुण्य का उदय है वे तृष्णावत दुःखी हैं। चीज मिली तो तृष्णा बढ़ी। जिनको जितना वैभव मिला हैवे उतनी ही अधिक तृष्णा कर सकते हैं। एक गरीब आदमी 10-20-50 रुपये की तृष्णा करेगा और एक करोड़पतिकरोड़ों के धन की तृष्णा करेगा। पुण्य का उदय तो तृष्णा कराने में सहायक होता है। कोई मनुष्य पाप के उदय में अपने को दीन हीन विचार कर दुःखी होता है तो कोई पुरुष पुण्य के उदय में दुःखी होता है। तो उसकी आधीनता उसके बंध-बंधे अपने को विचार-विचारकर दुःखी होते रहते हैं। हे आत्मन् ! पुण्य का उदय अथवा पाप का उदय दोनों ही बेड़ियाँ हैं। इनको छेदना चाहते हो तो सबका उपाय यह एक मन का विजय करना है, अतः मन को रोको और कर्मों की बेड़ियों का छेदन करो।

श्लोक-1075

सम्यग्स्मिन् समं नीते दोषा जन्मभ्रमोद्भवाः।
जन्मिनां खलु शीर्यन्ते ज्ञानश्रीप्रतिबन्धकाः॥1075॥

साम्यभाव से ज्ञानश्रीप्रतिबन्धक दोषों का प्रक्षय— इस मन को भली प्रकार समता में लगाने से जीव के ज्ञान लक्ष्मी के आवरण करने वाले दोष नष्ट हो जाते हैं। इस आत्मा में ज्ञान अपार है ऐसा इसका स्वभाव है। पर उस ज्ञान को रोके कौन है? विषयकषाय रागद्वेष मोह के विकार। निमित्त दृष्टि से तो यह उत्तर आयगा कि ज्ञानावरण कर्म ने आत्मा के ज्ञानविकास को रोक रखा है, लेकिन आत्मा में ज्ञान हो तो कर्म रुकेंगे और कर्म भिन्न वस्तु है, आत्मा भिन्न वस्तु है। भिन्न पदार्थों का भिन्न पदार्थ में करतब क्या चलेगा, पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है इस कारण उपचार से ऐसा कहा करते हैं कि कर्मों ने आत्मा का ज्ञानधन लूट लिया। और उपादान दृष्टि से यह बात कहेंगे कि हमारे ऐबों ने हमारे ज्ञानधन को बरबाद कर दिया। रागद्वेष मोह आदिक विकार ये आत्मा के ज्ञान को रोक देते हैं। जिस उपयोग में रागद्वेष मोह छाया है वहाँ ज्ञान नहीं आ सकता। रागद्वेष मोह से रहित आत्मा बने तो इसके ऐसा ज्ञान प्रकट हो जो तीन लोक और अलोक का स्पष्ट ज्ञान करता है, तो ज्ञान को रोकने वाला है रागद्वेष मोह आदिक विकार। इन विकारों का उत्पादक निमित्त है मन, सो मन को वश में कर लेने पर फिर रागादिक विकार भी दूर होंगे और रागादिक के नष्ट होने से विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होगा। जीवों की चाह केवल दो ही रहती हैं, हमारे खूब ज्ञान बढ़े और खूब आनन्द होवे। इनके अलावा और कुछ इसकी मांग नहीं है। भूल से आनन्द का साधन जिसे मान लिया उसकी मांग करते हैं तो दो बातों की चाह रहती है जीवों की ज्ञान और आनन्द। सो ज्ञान और आनन्द इन दोनों का बाधक है विकार, विषय। और विषय विकार का साधन है मन। तो मन को रोकने से ये विषय विकार रुकेंगे और विकारों के रुकने से ज्ञान और आनन्द दोनों असीम प्रकट हो जायेंगे। देखो जब भी कोई आत्मा में तृप्ति आती है, विश्राम जगता है तो अपनी ओर झुकी हालत बन जाती है, परपदार्थों की ओर दृष्टि गड़ाये हुए में संतोष का घूँट किसी ने नहीं पिया। जिसे संतोष का घूँट आता है तो अपनी ओर झुककर ही आता है। हर बात में देख लो परपदार्थों की ओर दृष्टि करने से तो तृष्णा का दाह बढ़ता है और अपने आपकी ओर झुकने से संतोषरूपी अमृत का घूँट आ जाता है। तो ज्ञान और आनन्द दोनों का विकास होने का अमोघ सत्य उपाय है अपने आपको अकिञ्चन समझना और परपदार्थों से उपेक्षा कर लेना यों पर की दृष्टि से हटकर जो अपने आपके स्वरूप में मग्न होता है उसे ज्ञान और आनन्द दोनों प्रकट हो जाते हैं। इसलिए ऐसा ज्ञान और आनन्द आत्मा में स्वभाव है और ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की दृष्टि रहे।

श्लोक-1076

एक एव मनोदैत्यजयः सर्वाथसिद्धिदः।

अन्यत्र विफलः क्लेशो यमिनां तज्जयं बिना॥1076॥

मनोदैत्यजय की सर्वाथसिद्धिदताः—संयमी मुनियों को एकमात्र मनरूपी दैत्य का जीत लेना ही समस्त अर्थों की सिद्धि को प्रदान करने वाला है। 'मन के जीते जीत है मन के हारे हार।' लोक में इसका अर्थ यों लगाते कि सांसारिक कोई कार्य करना हो, किसी शत्रु से, किसी विरोधी से भिड़ना हो तो अपने मन को बलिष्ठ बनायेंगे तो जीत जायेंगे, पहिले से ही मन को निर्बल बना लिया तो हार जायेंगे। जैसे लोग दिशाशूल का बड़ा ख्याल करते हैं, जैसे लोग कहते हैं कि मंगल और बुध को उत्तर की ओरजाने के लिए दिशा शूल है, चूँकि ऐसा भाव पहिले से ही बना लिया था इस कारण पहिले से ही कुछ दिल कमजोर सा हो गया। अब वह जो भी काम करेगा वह उसी दुर्बल ढंग से करेगा। फल क्या होगा कि वह काम अपने आप बिगड़ेगा और काम बिगड़ने पर दिशाशूल का एहसान देंगे। अपना मन बलिष्ठ है तो हर एक विभूति पायी जा सकती है। मन बलिष्ठ नहीं है तो हर जगह विपत्ति पायी जा सकती है, कहीं भी विजय नहीं पायी जा सकती है। पाप का कार्य कोई करे तो उसका मन बलिष्ठ रह ही नहीं सकता। तो ऐसे दुर्बल मन से कोई व्यवहार करेगा तो उसका लक्षण व्यवहार होगातब वह अपने आपको हार में ही पायेगा। जिन्हें समस्त अर्थों की सिद्धि करना है तो इस मनरूप दैत्य को जीत लें। मन को जीते बिना व्रत नियम तप और शास्त्र स्वाध्याय आदिक में क्लेश करना व्यर्थ है मन विषयों की ओररहे और धर्म के नाम पर अन्य कषाय ही कषाय करता रहे तो जो विषैला मन है, जो विषयों में आसक्ति रखता है उस मन वाले पुरुष को व्रत नियम से कोई सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। अतः अर्थ की सिद्धि चाहने वाले पुरुषों को इस मनदैत्य का जीतना बहुत आवश्यक है। इस मन का जीतना किस प्रकार होगा? उसका उपाय है मूल में भेदविज्ञान। किसमें मन लगाना? लोक में हमारा नाम रहे। अच्छा किन लोगों में आप अपना नाम चाहते हैं? जो खुद मर मिटेंगे, जो स्वयं मलिन हैं, संसार में भटकते हैं इन लोगों में नाम चाह रहे। उससे क्या लाभ होगा? जब भेदविज्ञान जगता है में तो स्वतंत्र अपना ही परिणमन किया करता हूँ, दूसरे का कुछ नहीं करता और दूसरे लोग भी सब अपना-अपना ही कार्य करते हैं, अपने ही प्रदेशों में परिणमते हैं, वे कोई मेरा कुछ नहीं करते। भेदविज्ञान जगे, फिर नाम यश की चाह कौन करेगा? इसी प्रकार सब विषयों की बात है। अपने आपको सारशरण तो खुद आत्मा है। इस बात का जिसे परिचय हो जाय फिर वह क्यों विषयों में रति बनायेगा? तो विषयों की प्रीति हटे, मन पर विजय प्राप्त

हो, यह सब भेदविज्ञान से सिद्ध होगा। भेदविज्ञान बनेगा वस्तु का स्वरूप पहिचानने से। और वस्तु के स्वरूप की पहिचान होगी स्याद्वाद से। तो यह स्याद्वाद का उपाय हमारे समस्त कल्याणों में एक प्रधान साधन है। उस स्याद्वाद से हमने वस्तुस्वरूप जाना। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है। जो सभी पदार्थ अपने आपमें ही उत्पाद करते हैं, व्यय करते हैं, और ध्रुव करते हैं। ऐसा समस्त पदार्थों का स्वरूप है कि वे अपने ही स्वरूप में रहकर नई स्थितियाँ बनायेगा, पुरानी स्थितियाँ विलीन करेगा और वह सदा शाश्वत वह ही रहेगा। इस प्रकार उत्पाद व्ययध्रौव्य प्रत्येक पदार्थ में स्वयं अपने आपमें है तब किसी पदार्थ से किसी दूसरे पदार्थ का सम्बंध क्या? कोई किसी का अधिकारी नहीं, कोई किसी का स्वामी नहीं। जब यह भेदविज्ञान जागृत होता है तो वहाँ वस्तुस्वरूप समझ में आया और मोह वहाँ मिट गया। मोह दूर हुआ कि सारे संकट दूर हो गए। जितने भी संकट हैं वे सब मोह के बल पर ही अपना बल बना रहे हैं। मोह मिटा कि समस्त संकट समाप्त हो गए। जिनको समस्त संकटों से मुक्त होने की चाह है उनका प्रधान कर्तव्य है कि वे इस मनदैत्य पर विजय प्राप्त करें।

श्लोक-1077

एक एव मनोरोधः सर्वाभ्युदयसाधकः।

यमेवालम्ब्य संप्राप्ता योगिनस्तत्त्वनिश्चयम्॥1077॥

मनोनिरोध की सर्वाभ्युदयसाधकता—एक मन को रोकना ही समस्त अभ्युदयों का साधने वाला है। क्योंकि मन के निरोध का आलम्बन करके ही योगीश्वर तत्त्व के निश्चय को प्राप्त होते हैं। निश्चय निर्णय सम्यग्ज्ञान किसके कहलाता है। जिसने मन पर विजय प्राप्त कर लिया उसे लोग अब भी ज्ञानी पंडित कहते हैं। जिसका आचरण दुषित हो, पापों में लगता हो तो कहते हैं कि इसको ज्ञान हुआ कहाँ? चाहे बड़े-बड़े वाक्य, छंद, व्याकरण, ज्योतिष बड़ी-बड़ी विद्याओं का जानकार बन गया हो, पर आचरण हो दुषित तो लोग कहते हैं कि इसने ज्ञान कुछ नहीं पाया। तो ज्ञान तभी कहा जाता है जब आचरण सही बनने लगता है। तो जिन मुनियों के मन का निरोध किया है उन्हें समस्त अभ्युदय सिद्ध होते हैं और तत्त्व का निश्चय उनके ही होता है ऐसा हम निर्णय कहते हैं। मन के निरोध से ही समस्त समृद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। जब तक किसी ऋद्धिसिद्धि की चाह बनी रहे तब तक ऋद्धियाँ उत्पन्न नहीं होती और जब चाह नहीं रहती तो ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। जगत में यही तो एक रोना है कि जब हम समृद्ध होते हैं तो चाह नहीं रहती है, जब हमारे चाह रहती है तो समृद्धि नहीं मिलती। फिर काहे का जगत में आनन्द है? मुनीश्वरों के अनेक ऋद्धियाँ पैदा हो

जाये उनको पता ही नहीं रहता कि हमें कुछ चमत्कार उत्पन्न हुए हैं। किसी को जानकारी हो जाय तो ऐसी सिद्धि उत्पन्न होती है कि वह धर्मरक्षा करने में समर्थ है। तब वह परीक्षा करता है और निश्चय करता है कि हमारे यह सिद्धि प्राप्त हुई है। तो यह चाह तो समृद्धि में बाधा देने वाली है। चाह से लाभ कुछ नहीं है बल्कि नुकसान ही नुकसान है। तो एक मन को रोकने से समस्त अभ्युदयों की सिद्धि होती है और मन को रोकने वाले मुनीश्वर ही वास्तव में तत्त्व के निश्चय को प्राप्त होते हैं यह कहा जा सकता है। जैसे बड़े-बड़े सम्यग्ज्ञानियों की कथायें कहें तो जो उच्च विरक्त और प्रयोगरूप परिणति वाला है वह कम से कम छूटती है बात। फिर सब बात क्या है? उससे कोई पूछे और उसे विवश कर दे कि फिर सच बतावो क्या है तो वह विरक्त होकर सबसे स्नेह तजकर जंगल को चल दे। बस अब सब लोग अपने आप समझ जायें कि सच बात क्या है? जैसे भोजन-भोजन हलुवा-हलुवा कहने से किसी का पेट तो नहीं भरता, खाते है तब पेट भरता है, ऐसे ही धर्म की बात मुख से कहते रहने से तो वह चमत्कार नहीं बनता वह धर्म की बात प्रयोगरूप से अपने में उतार लें तो उसमें लाभ हुआ करता है। तो जब तक हम प्रयोग नहीं करते अपनी जानी हुई धर्मविधि का तो कुछ उससे लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। तो तत्त्व निश्चय हमारा तब कहा जायगा जब हम मन को वश में कर लें।

श्लोक-1078

पृथक्करोति यो धीरः स्वपरावेकतां गतौ।
स चापलं निगृह्णाति पूर्वमेवान्तरात्मनः॥1078॥

स्वपरभेदविज्ञान का माहात्म्य— जो धीर वीर पुरुष एकत्व को प्राप्त हुए— आत्मा और शरीर आदिक वस्तुओं का पृथक-पृथक अनुभव करते हैं वे ही अन्तरात्मा हैं और वे ही मन की चंचलता को रोकते हैं। यह देह और जीव इस समय एकत्व को प्राप्त हैं। बड़ा दृढ़ बन्धन है। शरीर के रग-रग में आत्मप्रदेश हैं। आत्मप्रदेश सब शरीरों के एक क्षेत्रावगाह हैं ऐसे एकत्व को प्राप्त हुए हैं, फिर भी जो ज्ञानी पुरुष हैं, अन्तरात्मा जन हैं, वे सब मिले हुए देह और आत्मा का पृथक कर डालते हैं, स्वरूपदृष्टि द्वारा इस शरीर का और अपने को पृथक मान लेते हैं और परिचय भी कर लेते हैं, शरीर से न्यारा अन्तस्तत्त्व अनुभव भी कर लेते हैं। ये सब बातें तत्त्वज्ञान से बनती हैं और उसी तत्त्व ज्ञान से ध्यान की साधना बनती है। तो ध्यान के अंग है मुख्य आत्मविश्वास, आत्मविज्ञान और आत्मरमण। इससे अपना उद्यम किया जाय तो अपने इस दुर्लभ नरजीवन की प्राप्ति समझिये सफल हो गयी और एक अपने आपका रत्नत्रयधर्म न पाया जा सका तो

जो मिला है यह सब खो दिया समझिये। जैसे कि मिला हुआ रत्न कोई समुद्र में फेंक दिया जाय। हम ज्ञानार्जन की ओरबढ़े और मोहभाव को दूर करें, यह कर्तव्य बने तो हम आप कल्याण पा सकते हैं।

श्लोक-1079

मनःशुद्धयैव शुद्धिः स्याद्देहिनां नात्र संशयः।

वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम्॥1079॥

मनःशुद्धि से वास्तविकी शुद्धि की सिद्धि—मन की शुद्धि से ही जीवों की शुद्धता मानी गयी है। जिनका मन तो पवित्र न हो, विषय कषायों में रत रहा करते हो, दूसरे जीवों के प्रति ईर्ष्या मात्सर्य द्वेष रखते हों वे चाहे शरीर से कितना ही सुन्दर हों और बहुत बड़े सागरों के जल से भी नहाया गया हो तो भी उनके पवित्रता नहीं मानी गयी है और जिनका मन शुद्ध है वे चाहे शरीर से किसी अपवित्र स्थिति में भी हों, मलमूत्र का लपेट हो, किसी भी स्थिति में हों तब भी वे पवित्र होते हैं। आत्मा की पवित्रता आत्मा के शुद्ध आशय से बनती है। अशुद्ध आशय से तो आत्मा अपवित्र ही है। मन की शुद्धि न हो तो मात्र शरीर को क्षीण करना यह तो व्यर्थ बात है। मल पवित्र है नहीं और उपवास तपश्चरण आदिक से या अनेक कायक्लेशों से शरीर को सुखा रहे हैं तो वह व्यर्थ की बात है, यद्यपि वह भी व्यवहार साधन है पर किसलिए है, यह कायक्लेश किसलिए हैं ये सब बाह्य तप? इसका मतलब तो आना चाहिए, वह सब है आत्मा की पवित्रता। सो मन की शुद्धि ही जहाँ नहीं है वहाँ आत्मा पवित्र कैसे हो सकता है? स्वयंभूरमण समुद्र में दो प्रकार के मच्छ रहते हैं, एक महामत्स और एक तंदुलमत्स। महामत्स के तो हजार योजन को अवगाहना है और तंदुलमत्स अत्यन्त छोटा होता है जो महामत्स की आँख में भी घुसा रहे। तंदुलमत्स जब यह देख रहा है कि यह महामत्स अपना मुँह बायें है और हजारों मछलियाँ उसके मुख में लोट रही हैं तो सोचता है यह कि इसकी जगह यदि मैं होता तो एक भी मछली बाहर न निकलने देता, सबको भख लेता। तो उसके ऐसा पाप का बंध होता है कि वह सप्तम नरक में जाता है। हिंसा नहीं कर सकता मगर हिंसा का भाव हो गया तो उसे पाप बंध गया। जो कर्म बंधते वे अभाव के परिणाम का निमित्त पाकर बनते हैं। अब सोच लीजिए कि रातदिन परिग्रहों की तरफ चित्त जुटाये रहना, विषयसाधन पोजीशन की ओर चित्त लगा रहना बड़ा भारी पाप है और हम आप यह सब अपने आत्मप्रभु पर अन्याय कर रहे हैं। अपनी दृष्टि हो, आत्महित का भाव हो तो जीव को शान्ति का रास्ता मिल जायगा, मगर दुनिया में ही अपने को बड़ा बनाना या और-और तरहसे अपने को नामी बनाने की धुन हो तो वहाँशान्ति का मार्ग नहीं मिल सकता।

श्लोक-1080

ध्यानशुद्धि ममःशुद्धिः करोत्येव न केवलम्।
विच्छिन्नत्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम्॥1080॥

मनःशुद्धि होने से ध्यानशुद्धि व कर्मजालछेदन—मनः मन की पवित्रता केवल ध्यान की शुद्धता को ही नहीं करती किन्तु जीवों के भव-भव के बांधे गये कर्मों के समूहों को भी नष्ट कर देता है। विचार सुन्दर हों, पवित्र हों, इसी के मायने है मन की शुद्धता। सब जीव सुखी हों प्रथम तो यह आशय बने तो मन की पवित्रता जगेगी। संसार के किसी भी जीव को विरोधी न समझे तो मन की पवित्रता बनेगी, विरोधी तो कोई दूसरा जीव है ही नहीं। जिन्हें हम विरोधी समझते हैं वे विरोधी नहीं हैं किन्तु उन्हें स्वयं स्वार्थ लगा है, स्वयं कोई इच्छा है, कषाय है तो वे स्वयं अपनी कषायों की वेदना मेटने का यत्न कर रहे हैं। किसी भी परद्रव्य पर मेरा विरोध क्या? जगत में मेरा कोई विरोधी नहीं, सब जीव सुखी हों, इस प्रकार की भावना होना, सब जीवों के प्रति मित्रता का परिणाम रहना यही है मन की पवित्रता। जिसका मन पवित्र होता है वह गुणग्राही होता है, दोषग्राही नहीं होता, गुणियों को देखकर वह हर्ष मानता है। अहो जिस गुण के विकास का नाम मोक्ष है, परमपद है उस गुण के विकास के लिए उद्यमी महापुरुषों का समागम प्राप्त हुआ है। धन्य हैं वे गुणीजन जिनकी उपासना के प्रसाद से मेरे में भी ऐसा ही गुणविकास हो। जिनका मन पवित्र है वे गुणियों के गुण देखकर हर्ष मानते हैं। पवित्र मन वाले दुखियों के दुःख देखकर भरसक प्रयत्न करते हैं कि इनका दुःख दूर कर दें। दूसरों को दुःखी करने का भाव नहीं बनाते हैं। जिनका मन पवित्र है वे विपरीत बुद्धि वाले पुरुषों में अर्थात् जो रागी हैं, द्वेषी हैं, उद्दण्ड हैं, अपने से विपरीत भाव रखते हैं ऐसे पुरुषों को निरखकर मध्यस्थ भाव रखते हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष अपने ही समान जगतके समस्त जीवों में शुद्ध चैतन्यस्वरूप निरखते हैं। मेरा कोई विरोधी नहीं। सभी जीव अपना-अपना परिणमन लिए हुए हैं यों पवित्र मन वाला पुरुष अन्य जीवों को भी अपने ही स्वरूप के समान विशुद्ध चैतन्यमात्र मानता है। ऐसे पवित्र आत्मावों के जो मन की पवित्रता है उससे ध्यान भी विशुद्ध होता है, चित्त एकाग्र होता है और भव-भव के बांधे हुए कर्मजालों को भी काट देता है।

श्लोक-1081

पादपङ्कजसंलीनं तस्यैतद्भुवनत्रयम्।

यस्य चित्तं स्थिरीभूय स्व स्वरूपे लयं गतम्॥1081॥

स्थिरचित्त पुरुषों के चरण में भुवनत्रय की सलीनता— जिस मुनि का मन स्थिर होकर आत्मस्वरूप में लीन हो गया उस मुनि के चरणकमलों में ये तीन लोक भली प्रकार लीन हुए समझना चाहिए। सबसे बड़ा काम है यह आत्मा आत्मा में लीन हो जाया। यह आत्मा भागा फिर रहा है बाह्य पदार्थों में और भागने के लिए इसके पैर है ज्ञान विकल्प। विकल्पों से इतना जल्दी दौड़ जाता है यह आत्मा कि यहाँ से बम्बई करीब एक हजार मील होगा, पर बम्बई पहुँच जाने में इस मन को पाँच सेकेण्ड भी न लगेगा। मन की गति सबसे अधिक तेज मानी है, इतनी जल्दी बिजली भी नहीं पहुँच सकती है, हवा भी नहीं पहुँच सकती है, शब्द भी नहीं पहुँच सकते हैं, कुछ भी नहीं पहुँच सकता, और बम्बई, रूस, अमेरिका आदि की बात जाने दो, सर्वारिसिद्धि की चर्चा जो जानते हों वे वहाँ भी एक चुटकी में पहुँच जाते हैं। मन की गति अत्यन्त तीव्र है और मन की गति अबाध है, बीच में कितने ही पहाड़ वज्रपटल आते हैं पर वे इस मन को रोक सकते हैं क्या? वह मन क्या है? एक प्रकार का ज्ञान है। विषयों को बाह्यपदार्थों को आश्रय में लेकर उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है उसी को ही मन कहते हैं। तो मन की गति अत्यन्त तीव्र है। इस मन को रोककर जिन्होंने अपने आत्मा में स्थिर कर लिया है उन्होंने इन तीनों जगत को अपने आपमें लीन कर लिया है। सब चीजें मिल सकती हैं कि नहीं किसी को? दुनिया के जितने पदार्थ हैं वे सब मिल सकते हैं। किस उपाय से? उनकी चाह न रहे, लो सब मिल गए। अरे जब चाह रहेगी तो मिलेंगे नहीं और जब चाह ही नहीं रही तो समझो सब कुछ मिल गया। तो जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, समझो उसने विश्व का सकल साम्राज्य पा लिया। क्या जरूरत है? और भक्तजन भी, कल्याणार्थी महापुरुष भी उनके चरणकमलों का ध्यान करते हैं। जिन्होंने इस मन पर विजय प्राप्त कर लिया है। प्रकृति देख लो— आपका चित्त उनकी भक्ति में लगेगा जिन्हें आप यह समझें कि ये संसार की आशा नहीं रखते, सब आशाओं से दूर हैं, परिग्रहों से दूर हैं, किसी भी विषय की साधना नहीं चाहते। ऐसा आप जिनके बारे में समझते होंगे उनके प्रति आपका गुणानुवाद नियम से जगेगा और जिसे आप समझ ले कि यह तो क्रोधी है, अपनी वाञ्छायें रखता है, पञ्चेन्द्रिय के विषयों की आकांक्षायें रखता है, खाने पीने का अधिक लालची है ऐसे पुरुष के प्रति आपको गुणानुवाद नहीं जगता। तो जिन्होंने मन पर विजय किया उनके प्रति तो यह एक जगत है। जो इस जगत के ही माफिक विषयों में ही लीन हो उसमें क्या भक्ति जगेगी?

श्लोक-1082

मनः कृत्वाशु निःसङ्गं निःशेषविषयच्युतम्।
मुनिभृङ्गैः समालीढं मुक्तेवदनपङ्कजम्॥1082॥

निःसंग व विषमच्युत मन वाले मुनियों की मुक्तिपात्रता—जिन मुनिरूपी भ्रमरों ने अपने मन को निष्परिग्रहता से समस्त विषयों से छुड़ा लिया है उन्होंने ही इस मुक्ति के वदन पंकज का आलिंगन किया, वे ही इस मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। 'दोष काज नहीं होय सयाने।, विषयकषाय और मोक्ष में जाने॥' मोक्ष और संसार के विषय कषाय ये दोनों बातें एक साथ नहीं बन सकती। मोक्ष नाम है केवल रह जाने का। आत्मा के साथ अन्य कोई दंद-फंद न रहे, शरीर कर्म विकार चिन्ता शोक आदिक जो लगे हुए हैं उन सबसे न्यारा यह आत्मा केवल रह जाय इसी के मायने हैं परमात्मपद। इसी परमात्मपद की भावना भानी चाहिए भगवान के दर्शन के समय। अकेला आत्मा ही आत्मा रह गया, इस कारण अनन्त आनन्द भोग रहे हो, ऐसी ही सुबुद्धि मेरी जगे कि मैं भी समस्त परपदार्थों का रागद्वेष मोह छोड़ दूँ और आपके समान मैं सबसे न्यारा अकेला आत्माराम रह जाऊँ। यह भावना भायी जाय तो समझो कि हमने दर्शन का लाभ पाया। जो मुनि योगीश्वर अपने मन को निःसंग विषयों से विमुख बनाते हैं वे ही मोक्ष का आनन्द प्राप्त करते हैं।

श्लोक-1083

यथा यथा मनःशुद्धिर्मुनेः साक्षात्प्रजायते।
तथा तथा विवेकश्रीर्हृदि धत्ते स्थिरं पदम्॥1083॥

मनःशुद्धि की प्रगति के अनुसार विवेकश्री की प्रगति व स्थिरता— जैसे-जैसे मन की शुद्धि बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे भेदविज्ञानरूपी लक्ष्मी हृदय में स्थिर और दृढ़ होती जाती है। मन की शुद्धि होने से उत्तरोत्तर विवेक बढ़ता है। मन विषयों में पगा हो, इसका नाम है मन की अशुद्धि और मन विषयों में न पगा रहे, विषयरहित निर्दोषपरमात्मस्वरूप में मन लगे तो उस मन को कहते हैं पवित्र मन। मुनि के जैसे-जैसे मन की पवित्रता बढ़ती जाती है उनमें भेदविज्ञान भी बढ़ता जाता है। भेदविज्ञान नहीं होता तब ये चेतन अचेतन वैभव बड़े प्रिय

लगते हैं। जहाँभेदविज्ञान जगता तब प्रिय नहीं लगते। देखो देखने में ये सब शरीर कितने सुहावने लगते हैं। जबकि एक बाह्य दृष्टि से रखी जाय औरजब इनके स्वरूप को देखा जाय कि है क्या यह शरीर? ऊपर से यह चाम मढ़ा हुआ है और भीतर खून, पीक, नाक, धूल, मल, मूत्र, मांस, मज्जा आदि सारी अपवित्र चीजें भरी हैं।ऊपर का चाम भी अशुद्ध है। अनेक मलों से पूरित यह शरीर है। जब राग कम हो तो ऐसा दिखता है और जब राग अधिक है तो हड्डी रुधिर आदि पर कहाँ दृष्टि जाती है? उसे यह सब कुछ सुन्दर दिखता है। ज्ञानवैभवसम्पदा की बात देखो तो जब व्यवहारदृष्टि में लगे हैं तो ये सब धन, धान्य, चाँदी, स्वर्ण, रकम, पैसा, जायदाद ये सब कितने सुहावने लगते हैं, जिसे देख देखकर इतराते हैं और जब भेदविज्ञान की दृष्टि बनतीतो ये सारे परपदार्थ हैं, इनसे तो हमारा रंच भी सम्बंध नहीं है। मैं अपने स्वरूप किले में बैठा हूँ। सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं। जैसे भिखारी का जीव सब पुद्गलों से न्यारा है ऐसे ही यह में भी सब पुद्गलों से न्यारा हूँ। मैं केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ ऐसा जब यह भेदविज्ञान से देखता है तो इसे वैभव आफत मालूम होने लगता है। जब कोई धनिक पुरुष मरने लगता है तब उसको ये धन वैभव आफत मालूम होने लगते हैं। कहाँछोड़ूँ, कहाँले जाऊँ, किसको दे जाऊँ, ये सब वैभव बाहरी व्यवहारदृष्टि से तो भले जँचते हैं किन्तु जब भेदविज्ञान जगे तो यह वैभव सम्पदा भी इसे भार मालूम होता है। सम्यग्दृष्टि जीव को तो भार ही मालूम देता है। मैं इन सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ, मेरा करतब, मेरा कर्तृत्व, मेरा भोक्तृत्व, मेरी दुनिया सब कुछ मेरे प्रदेशों में ही समाया है। प्रदेशों से बाहर मेरा कुछ करतब नहीं, भोक्तृत्व नहीं, स्वभाव नहीं, कुछ भी नहीं है। मैं केवल अपने ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र हूँ, किन्तु जब अपने इस स्वरूप से डिग जाता हूँ, अपने निज प्रदेशों में टिक नहीं पाता हूँतो बाहर-बाहर ही विषयों में दौड़ लगाता हूँ और दुःखी होता रहता हूँ। ये समस्त परिग्रह भाररूप हैं। ध्यान में बाधा देने वाले मन की शुद्धि बिगाड़ने के कारण हैं। तत्त्वज्ञानी पुरुष को ये समस्त परिग्रह भाररूप मालूम देते हैं। जब भेदविज्ञान बढ़ता है, जब बाह्य पदार्थों से सही मायने में हटते हैं और अपने स्वरूप में मग्न होते हैं, बस वही निज पवित्रता है। वे ही पुरुष महंत हैं, उनके गुणानुराग से अपना उद्धार सम्भव है।

श्लोक-1084

चित्तशुद्धिमनासाद्य मोक्तुं यः सम्यगिच्छति।
मृगतृष्णातराङ्गण्यां स विबत्यम्बु केवलम्॥1084॥

चित्तशुद्धि के बिना मुक्ति की असंभवता— जो पुरुष मन की शुद्धता तो पा न सके और मुक्त होने की चाह रखता है उसका यह करतब यों है जैसे कि कोई मृगतृष्णा की नदी में जल पीना चाहता हो, मृगतृष्णा एक जल की तरह चमकने वाली रेत का नाम है। रेगिस्तान में दूर की रेत यों चमकती है जैसे पानी भरा हो और वहाँ पानी पीने की चाह से कोई हिरण दौड़ता है, पर ज्यों निकट पहुँचा, कुछ गर्दन उठाया तो पानी उतना का ही उतना दूर मालूम होता है। आगे की रेत पानी जैसी मालूम होती है। तब यह और आगे बढ़ता है। इस तरह पानी की आशा से आगे बढ़ता जाता है, वह पानी है आगे पीना है, यों पानी की तृष्णा रखकर बढ़ता चला जाता है। परिणाम यह होता है कि एक तो प्यासा था ही, दूसरे प्यास मिटाने के लिए जो उसने श्रम किया उससे और अधिक थक गया, प्यास और बढ़ गई और अपने प्राण गँवा देता है। ऐसे ही इस तृष्णावी मनुष्य की हालत हो रही है, जो विषय प्राप्त किया है वे तो पा ही लिया है, उनमें वह मुख तो देख नहीं रहा। तो बड़े विषय नहीं पाये हैं, ऐसे जो बाहर के साधन हैं उनमें आशा लगाये है कि सुख इसमें होगा। पर वहाँ निकट पहुँच जाय, वहाँ भी सुख नहीं मालूम होता। तब फिर और बाहर के विषयसाधनों में सुख की आशा रखते हैं, यों आशा-आशा में ही सारी जिन्दगी दौड़ लगा-लगाकर अपने को थकाकर शिथिल कर लेते हैं, अन्त में मरण होता है। मरण के बाद इसके साथ अन्य कुछ नहीं जा सकता। केवल जो पाप कमाया, वासना बनाया वह साथ जाती है। इस संसार में रहना एक बहुत टेढ़ी सी खीर है, एक बड़ी विकट समस्या है, क्योंकि जहाँ जाय वहाँ विश्राम नहीं, और मोह ऐसा लगा है कि बाह्य पदार्थों में घमंड जाये बिना यह चैन नहीं मालूम करता। सो जहाँ-जहाँजाता है, जिन-जिनके निकट जाकर प्रीति करता है वहीं-वहीं से इसे धोखा मिलता है। कदाचित् थोड़ी देर के लिए राग में यह मान लिया जाय कि देखो मैं स्त्री पुत्रों के निकट गया तो वहाँ से सुख तो मिला। केवल एक कल्पना बना ली कि हम बड़े चतुर हैं और बड़े भाग्यशाली हैं। जगत में जितना भी पदार्थों का संयोग है वह नियम से दूर होगा और जब तक लगा भी है संयोग तब तक भी कोई पदार्थ चाहे चेतन हो या अचेतन हो, मेरे लिए कुछ नहीं करता। सभी जीव जो कुछ क्रिया करते हैं वे सब अपने खुद के लिए करते हैं। जिसमें उन्होंने विश्राम समझा, मोह समझा उन चेष्टाओं को वे किया करते हैं। मेरे लिए कोई कुछ नहीं करता। यों जब भेदविज्ञान जगे सबका काम उनका उनमें ही, उनके द्वारा ही उनके ही लिए उनसे ही देखा करें कि समस्त पदार्थों के स्वरूप को केवल उसमें ही निहारा करें तो इस जीव का मोह टूटेगा और मोह मिटा कि आत्मा को शान्ति का रास्ता खुल गया। जब तक मोह है तब तक प्रभु के दर्शन भी नहीं हो सकते, शान्ति पर तो चलेगा ही क्या? इन सब समृद्धियों को पाने के लिए हम आपका कर्तव्य है कि हम मन की पवित्रता बनायें। मन की पवित्रता यही है कि मन में किसी भी जीव के प्रति विरोध और दुःख की बात न सोचें। कोई विरोधी भी हो तो मेरा भाव मेरा साथी है, उसका फल वह पायगा। मैं अपने मन में किसी भी जीव के प्रति विरोध क्यों रखूँ, ऐसा निर्विरोध मन बनायें तो वह है मन की शुद्धि। मन की शुद्धि से ही ध्यान की सिद्धि होती है।

श्लोक-1085

तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्ध्येयं तत्त्वमेव वा।
येनाविद्यामतिक्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरीभवेत्॥1085॥

अविद्या को हटाकर तत्त्व में मन को स्थिर करने वाले योगियों के ध्यान विज्ञान की श्रेष्ठता— जिस उपाय से अविद्या दूर हो और तत्त्व में मन लगे उस ही उपाय के होने पर समझिये ध्यान ठीक बना, विज्ञान सही हुआ और ध्येय तत्त्व की प्राप्ति हुई। वह धर्म और कल्याण के लिए प्रयत्न है। उन सब उपायों में यह बात करना है कि यह मन बाहरी पदार्थों में न डोलकर केवल आत्मा के अंत तत्त्व में स्थिर हो जाय, यह बात ध्यान से बनेगी। तो ध्यान वही उत्तम है जिस विज्ञान से बनेगी तो ज्ञान एक वही उत्तम है और ध्येय तत्त्व भी यही है कि विकल्प न बने और आत्मा में निर्विकल्प स्थिति जग जाय। इसके अलावा अन्य प्रकार का कुछ भी ध्यान किया जाय वह एक संसार का ही बढ़ाने वाला है। चाहे वैभव का ध्यान हो, इज्जत का ध्यान हो, किसी भी प्रकार का ध्यान हो वह एक संसारवर्द्धक है। मात्र एक ज्ञानरूप अनुभव जगेवह ध्यान ध्यान है। ज्ञान विज्ञान भी अनेक होते हैं। ऊँचे से ऊँचे आविष्कार बड़े-बड़े संहार आविष्कार किन्तु उन आविष्कारों से यह तो बतलावो कि आविष्कार करने वाले का भला हुआ या उपयोग लेने वाले का भला हुआ? सारा विश्व आविष्कार की धुन में लगा है। इसलिए आज कोई देश आविष्कार में पिछड़ा रहे तो उसकी खैर नहीं है। इस कारण सबको करना पड़ता है पर कुछ सोचिये तो सही, न होती सारे विश्व में यह बिजली, न होते सारे विश्व में ये रेडियो सिनेमा तो क्या बिगाड़ था? अब यों बिगाड़ है कि कुछ देशों में है और कुछ में न हो तो बिगाड़ की बात आये। जो चाहे उसे दबा लेगा। रेडियो वगैरह के साधन न होने से व्यवस्था ठीक न बनेगी। रखना पड़ रहा है, पर न होता तो शान्ति थी क्या? शान्ति ही थी। बहुत बड़े-बड़े तीव्रगामी यान निकले हैं। ये न होते आज तो क्या उससे बिगाड़ का? सुधार ही था, शान्ति थी। लेकिन जितने-जितने ये नये ज्ञान विज्ञान चले, सो विज्ञान आविष्कार निकलने वाले ने अपना जीवन खपाया और उनके प्रयोग करने वालों की भी आदत बिगड़ी लाभ कुछ नहीं होता। करना पड़ता है, यह बात अलग है। लेकिन ज्ञान विज्ञान तो वही उत्तम है जो ज्ञान ज्ञानमय आत्मा में लीन हो जाय, निर्विकल्प बन जाय, जन्म मरण मिट जाय, ऐसा उपाय बनावें, कर्मकलंक दूर हो जायें, ऐसे निज तत्त्व का ज्ञान होना यह ज्ञान है और ध्येय भी यही है। लोक में किस पदार्थ का ध्यान करें तो मिलेगा क्या? कोई पदार्थ छूटे तो सही। लोक की इज्जत प्रतिष्ठा धन वैभव परिजन कुटुम्ब मित्रजन कौनसी चीज ऐसी है जिसका ध्यान किया जाय, जिसमें चित्त लगाया जाय तो

आत्मा का कल्याण हो? बाहर में कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, केवल एक आत्मा में जो आत्मा का सहज स्वभाव है वही सारभूत है। उसमें चित्त लगा तो सदा के लिए दुःख दूर हो जाय। ये नाना प्रकार के विज्ञान और आविष्कार करके इस भव में मायामयी पुरुषों के द्वारा कुछ यश लूट लिया, पर जन्म मरण की परम्परा तो न कटेगी और जो जन्म मरण की परम्परा काट दे ऐसा कोई ध्यान करे तो लाभ में यह जीव रहा। इस कारण यह श्रद्धान में होना चाहिए कि ध्यान है तो आत्मध्यान ही श्रेष्ठ है, विज्ञान है तो आत्मविज्ञान ही श्रेष्ठ है और ध्येय तत्त्व है कौन? जिसमें कि हम निरन्तर चित्त बसाये रहा करें तो वह है आत्मतत्त्व। एक आत्मा का ध्यान बने, मन की शुद्धि बने, चित्त में निरोध हो तो शान्ति का मार्ग पाया जा सकता है।

श्लोक-1086

विषयग्रासलुब्धेन चित्तदैत्येन सर्वथा।

विक्रम्य स्वेच्छयाऽजस्रं जीवलोकः कदर्थितः॥1086॥

विषयग्रासलुब्धेन चित्तदैत्येन द्वारा जीवलोक की कदर्थितता— इस चित्तरूपी दैत्य ने जो विषयों के ग्रास का लोभी बन रहा है उसने अपनी इच्छा से बड़ा ऊधम मचाकर इस सारे जीवलोक को कतर डाला है। हे क्या संसार में दुःख? सिवाय एक चित्त स्वच्छन्द यहाँ वहाँ लगता फिरना, बस यही एक मात्र क्लेश है। जहाँ बैठा बैठा रहे, जहाँ आत्मा है बना रहे, उसमें ही इसकी लीनता रहे तो समस्त समृद्धियाँ हैं, लेकिन चित्त नहीं जमता और जगह-जगह डोलता है, चेतन अचेतन परिग्रहों में यह चित्त डोला करता है। तो इसका विलय करके इस जीव लोक को कदर्थित कर देना है। जिन्होंने अपने चित्त राक्षस को वश किया वे ही योगी जन त्रिलोक पूज्य होते हैं। कुछ पुण्य का उदय आता है तो यह चित्त-राक्षस और विशेष ऊधम मचाता है और इस ऊधम के कारण यह पुण्य भी नरक गति का कारण बन जाता है। पुण्य का उदय हो, वैभव प्राप्त हो, चित्त स्वच्छन्द फिरे, किसी भी जीव को कुछ न गिने, अपने आपमें अहंकार और घमंड में रहे और इस तरह अज्ञान अंधेरे से जीवन व्यतीत किया, परिणाम यह हुआ कि उसे मरकर दुर्गति में जाना पड़ता है। यद्यपि दुर्गति का कारण पापपरिणाम है, पुण्य का उदय नहीं है, पर पुण्य के उदय में ऐसे साधन मिले कि जितनी वजह से इसने पापपरिणाम उत्पन्न किया और फल यह हुआ कि दुर्गति प्राप्त की। इससे जगत में अगर कुछ पुण्य के ठाठ भी दिख रहे हैं अथवा पुण्य के ठाठ भी प्राप्त हुए हैं तो ये सब रमने के योग्य नहीं हैं, यह तो सब धोखा है। एक आत्मा का सत्य विज्ञान भेदविज्ञान बने, यही मात्र जीव को शरण है।

श्लोक-1087

अवार्यविक्रमः सोऽयं चित्तदन्ती निवार्यताम्।

न यावद्विसयत्येष सत्संयमनिकेतनम्॥1087॥

चित्तदन्ती के शीघ्र निवारण में हित— जीव का भला जीवन बिताने वाला है शुद्धाचरण। जो लोग सदाचार से रहते हैं उनके दसों साथी हो जाते हैं। जो पुरुष दुराचारी हो, हिंसक हो, कुशील हो, झूठा हो, चोर हो उसकी कौन मदद करता है? तो दूसरे लोग भी यदि आपका साथ देते हैं तो आप कोई खास नहीं है जिस वजह से साथ दे रहे हैं, किन्तु आप कुछ सदाचरण से रहते हैं। सदाचार के अनुराग से दूसरे लोग भी साथ दिया करते हैं। और कोई दुराचार में लगे तो सब किनारा कर जाते हैं। तो दूसरे लोग भी हमारी यदि मदद करते हैं तो दूसरे नहीं करते, किन्तु हमारा सदाचार हमारा खुद का उच्च विचार विज्ञान ज्ञान अपनी सम्हाल ये ही मदद कर रहे हैं। सो जब तक संयम बरबाद नहीं होता, यह चित्तरूपी हस्ती इस संयमरूपी उपवन को तहस नहस न कर दे तब तक इसका निवारण कर ले अन्यथा यह चित्त काबू से दूर हो जाता है तो इसकी सम्हाल कठिन है। इस चित्त को रोकना बहुत कठिन है। एक तत्त्वज्ञान को सम्हाल से ही इस चित्तरूपी हस्ती को बाँध लिया तो यह बंध जायगा। और तत्त्वज्ञान की शृंखला नहीं है तो यह चित्तदेवी सम्हाल नहीं सकती। नीतिकारों ने कहा है कि ये चार बातें एक-एक भी हों तो मनुष्य का अनर्थ करती हैं। कौनसी 4 बातें? जवानी, धनसम्पदा, चला और अज्ञान। जवानी कितने ही अनर्थ विचारों का मूल है। धनसम्पदा होने से मनुष्य किस प्रकार का अपना चित्त अहंकार में, तृष्णा में, असन्तोष में बना लेता है। सब तत्त्व की बात भूल जाता है और अहंकार यह बनाता है कि मैंने ही कमाया है, मैं इन सबको बहुत चाहता हूँ, यह वासना बसी रहती है। यह पता नहीं कि सम्पदा को क्या कोई शिर ने, हाथ ने, पैर ने कमाया, बुद्धि ने कमाया? किसी ने नहीं कमाया। हम जैसे शिर औरों के भी हैं। आप जैसे धन दिमाग वाले अनेक लोग हैं, पर उनके कुछ नहीं है और यहाँ कुछ मिला है तो उसका कारण क्या है? पूर्वकृत धर्म, पूर्वकृत पुण्य, अन्य कोई कारण नहीं है। उसमें अहंकार क्या करना, उसे विनश्वर जानकर उससे विरक्त रहना और समता से तथा जितना अधिक हो सके उतना धर्म के हेतु ही उसका विनिमय करना, क्योंकि सबसे ज्यादा रुचि जिसकी धर्म में होती है उसका सर्वस्व अधिक धर्म में विनिमय होता है और जिसकी रुचि परिजन में होती है कुटुम्ब में होती है उसके द्रव्य का व्यय कुटुम्बियों हेतु ही सारा हुआ करता है। यह तो अपने अनुरूप ही मोह की राग की बात है। तो यह सर्व कमाई किसी ने नहीं की, अर्थात् वर्तमान के परिणाम ने, वर्तमान के परिश्रम ने धन का अर्जन नहीं कर दिया, किन्तु पूर्व समय में ऐसा ही पुण्य भाव हुआ था, पुण्यबंध हुआ था कि इस भव में थोड़े से ही प्रयास

से अथवा यों हो यह वैभव प्राप्त हो गया है। तो यह धन सम्पदा यदि ज्ञानी के पास है तो उसे विचलित न करेगी और यदि ज्ञान नहीं है, अविवेक है तो यह धन सम्पदा तो अनर्थ ही करेगी। ऐसे ही कुछ चला हो गयी, प्रतिष्ठा बन गयी लोक में, कुछ बात चलने लगी, कुछ प्रधान माना जाने लगा तो इसकी भी वासना ऐसा अनर्थ करने वाली होती है, दूसरों ने अपमान कर दिया, दूसरों ने नीच समझा, अपने को सबसे भला माना और इस भाव में बहकर कभी गरीबों पर अन्याय भी करे, किसी दूसरे को कितना ही सता दे, जो कषाय में आये सो निर्णय करे— ये सब बातें इस प्रभुत्व में चला में सम्भव हैं, वे भी अनर्थ के लिए है। और अविवेक अज्ञान ये भी अनर्थ के लिए हैं। और जिस जीव की चारों बातें एक साथ आ जाय— जवानी भी हो, धनवान भी हो, उसका चला भी चलता हो और अज्ञान भी हो तब फिर उसके अनर्थ का तो कहना ही क्या है? सो ये सब अनर्थ इस मनरूपी हस्ती से हो रहे हैं। अतएव जब तक यह मनहस्ती इस सदाचार के उपवन को ध्वस्त न कर दे तब तक इसको रोके, इसको वश करें तो इसमें कल्याण है अन्यथा जैसे अनेक भव बिताये वैसे ही यह भव भी बीत जायगा, लाभ कुछ नहीं उठाया। मैं ना है।

श्लोक-1088

विभ्रमदुषियारण्ये चलच्चेत्तोवलीमुखः।

येन रुद्धो ध्रुवं सिद्धं फलं तस्यैव वाञ्छितम्॥1088॥

चित्तनिरोधक पुरुष के ही वाञ्छित तत्त्व की सिद्धि:— विचरने वाले विषयरूपी बनने में यह चंचल बन्दर भ्रमता ही रह रहा है तो जिस पुरुष ने इसे रोका, वश किया उसको वाञ्छित फल की सिद्धि होती है। मन का कैसा वेग है, क्षण-क्षण में कितनी छल्लाँग मारता है, कहाँ-कहाँ पहुँचता है और ऐसी-ऐसी कल्पनाओं में लग जाता है जिनकी पूर्ति होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, लेकिन यह मन न जाने कितनी कल्पनाएँ बनाता रहता है। कल्पनाओं से उठता कुछ नहीं है, परेशानी ही होती है। जितनी मन में कल्पनाएँ उठाते जायें उतनी ही परेशानी बढ़ती है, पर कषायों का उदय ऐसा है कि कल्पनाएँ किए बिना इसका गुजारा ही नहीं होता। अब देख लो सभी मनुष्य हम आप देखने में बड़े अच्छे लग रहे होंगे, शान्त हैं, चुपचाप हैं, बड़ी अच्छी मुद्रा लिए हुए हैं। दूसरों को देखने में ऐसा लगता है कि ये बड़े सुखी हैं, बड़े गम्भीर है, बड़े स्वच्छ हैं, पर सबके चित्त में कितने विकल्पजाल उठ रहे हैं, चल रहे हैं, तो सब अपनी-अपनी जान लें। चित्त किसी एक जगह बंधा भी है क्या? किसी जगह इसने मग्न भी किया है क्या? तो सब अपनी-अपनी जान लें। चित्त केवल एक बात में ही बंध सकता है। उसके अलावा और किसी में नहीं बंध सकता। वह एक बात क्या है? अपना शाश्वत

ज्ञानानन्दस्वरूपा। इसकी ओरचित्त चले तो कहीं बने रहें ऐसी बात सम्भव है। चित्त विनष्ट तो हो जायगा, किन्तु चंचल न रहेगा, पर अन्य पदार्थों में चित्त चले और वहाँ बने रहें यह सम्भव नहीं है, क्योंकि जिस पदार्थ में चित्त लगाया वह पदार्थ विनाशीक है, उसका संयोग वियोग उस पदार्थ के कारण है। यहाँ हम चित्त देते हैं तो जैसा चित्त चाहता है वैसा उस पदार्थ का होना तो सम्भव नहीं है तब यह चित्त दुःखी होता है। इस चित्त का आधार मिट जाता फिर दूसरा आधार तकता, वह भी मिट जाता। बाह्य पदार्थों का आधार लगा लगाकर यह चित्त कोई विश्राम नहीं पा सकता है। केवल एक ध्रुव निज सहज स्वरूप में चित्त लगे तो इसे विश्राम मिल सकता है सिवाय इसके अन्य कुछ भी करे तो वहाँ चित्त को विश्राम नहीं मिल सकता।

चञ्चल चित्त को शुभोपयोगों में लगाये रहने का महत्त्व— यह चित्त बन्दर की तरह चंचल है। तो जब तक नहीं मिला हमें अपने सहजस्वभाव का लक्ष्य, किन्तु समझा जरूर है तब तक इस मनरूपी बन्दर को चाहिए कि शुभ कार्यों में लगा रहे। परोपकार हे, देवपूजा है, गुरुसत्संग है आदिक कार्यों में इस चित्त को लगाये रहें तो यह चित्त विषयजालों में पतित तो न होगा, इसे कहते हैं शुभोपयोग। इस मन को किसी न किसी प्रकार शुभोपयोग में लगाये रहें, देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, सत्संग, संयम, तपश्चरण आदिक में लगाये रहें ताकि यह हमारा एक मूल श्रद्धान् ज्ञान आचरण पर हमला न कर सके। एक राजा को एक देवता सिद्ध हो गया तो देव प्रत्यक्ष होकर बोलता है राजन् ! हम तुम्हें सिद्ध हो गए हैं। हम तुम्हारी सभी कामनाएँ पूरी कर देंगे, काम बतावो। यदि काम नहीं बतावोगे तो हम तुम्हें खा लेंगे। ऐसा तेज देवता सिद्ध हुआ। तो राजा ने कहा— अच्छा अमुक सड़क बना दो, क्षणभर में बना दिया।.....राजन् काम बतावो।.....अमुक जगह मकान बना दो। लो बन गया मकान। यों ही राजा जो चाहे सो तुरन्त तैयार हो जाय। अब राजा सोचता है कि यह तो हम पर आफत आ गयी। यदि काम नहीं बताते हैं तो यह हमारे प्राण हर लेगा। सो एकदम उसका होनहार अच्छा था सो कुञ्जी मिल गयी। देव ने कहा काम बतावो तो राजा ने कहा अच्छा 50 हाथ का एक लोहे का डंडा गाड़ दो।गाड़ दिया।.....राजन् ! काम बतावो।.....एक 55 हाथ की पतली लोहे की जंजीर इस खम्भे के छोर पर बाँध दो।.....राजन् काम बतावो।..... इस जंजीर का एक छोर अपने गले में फाँसकर जब तक हम मना न करें इस खम्भे में चढ़ो और उतरों। जब ऊपर चढ़ गया तो अभी नीचे उतरने का काम पडा है। लो इससे तो राजा का संकट मिट गया।बड़े आराम से रहने लगा और यह उस खम्भे में चढ़े उतरे। जब चढ़ते उतरते परेशान हो गया तो राजा से हाथ जोड़कर कहता है— राजन् ! क्षमा करो। जब तुम कहोगेतब हम तुम्हारी सहायता को आ जायेंगे, हम अपनी हठ वापिस लेते हैं कि काम न बतावोगे तो हम तुम्हारे प्राण हर लेंगे। तो जैसे बन्दर बनकर चढ़ाया उतराया तो उस देव से रक्षा हो गयी, ऐसे ही इस मन को शुभोपयोग में लगाते जावें, अच्छे कामों में लगायें तो यह मन परेशान न करेगा। इस मन बन्दर को स्वच्छन्द विचरने से रोके तो समस्त मनोवाञ्छित कार्य हमारे सिद्ध हो सकेंगे।

श्लोक-1089

चित्तमेकं न शक्नोति जेतुं स्वातन्त्र्यवर्ति यः।

ध्यानवार्ता ब्रुवन मूढः स किं लोके न लज्जते॥1089॥

चित्तविजय में असमर्थ पुरुषों द्वारा ध्यानवार्ता किये जाने की हास्यास्पदता— जो पुरुष स्वतंत्रता से वर्तने वाले इस चित्त को जीतने में समर्थ नहीं है वह यदि ध्यान की बात करे में ध्यानी हूँ, यों ध्यान की बात करें तो वह लज्जित नहीं होता। चित्त तो वश में है नहीं और ध्यान की बड़ी ऊँची बात करे तो यह शोभा की बात नहीं है। सर्वप्रथम चित्त वश में हो तो ध्यान का काम बन सकता है। चित्त हमारा वश में हो, ज्यों ही चित्त ने कोई बात चाही त्यों ही लो अब वह नहीं करना। ऐसे होते हैं गृहस्थ। मन ने इच्छा की कि आज अमुक चीज खाना है तो तुरन्त उसी चीज का त्याग कर दिया। क्यों ऐसा मन ने सोचा? जो मिल गया घर में समय पर उसी में ही पूर्ति हो जायगी, क्यों विकल्प करें? ज्यों ही चाह उठी उस चाह के विरुद्ध अपनी परिणति बना ली। जिस प्रकार भी हो इस मन को वश करना चाहिए। कितने ही लोगों को देखा होगा क्रोध आया और इतना तीव्र आया कि देखने वालों को तो ऐसा लगता कि इसका जीवन भर यह बैर चलेगा, लेकिन वह क्षण भर बाद में ही हँसने लगता, शान्त हो जाता और उसका ही उपकार करने लगता है। और कुछ लोग ऐसे होते कि क्रोध आया तो उसको जीवन भर बनाये रहेंगे और उसका पूरा बदला लेने की चेष्टा करते रहेंगे। तो ऐसा बल होता है ज्ञान में कि कभी भले ही कषाय उत्पन्न होपर क्षण भर बाद ही उस कषाय को शान्त कर लेते हैं। देखिये हम कषाय करें तो दुनिया उसे सह न सकेगी। कषाय छोड़कर समता रहे तो दुनिया भली प्रकार देख भी सकेगी। यह सबकी बात है। कषाय ऐसी निपट बुरी चीज है कि दूसरे लोग इसे सह नहीं सकते और खुद भी सह नहीं सकते, मगर मोह ऐसा है, कि क्रोध, मान, माया, लोभ किए बिना यह रह नहीं पाता। तो आत्मा का अहित करने वाली दो ही चीजें हैं— विषय और कषाय। और इन दोनों की जड़ है मोह। कुछ पता ही नहीं रहना कि दुनिया क्या है, में क्या हूँ, अपने और पराये का कुछ भान ही जब नहीं है तो वहाँ जो कषाय आया है वह प्रबल होगा ही। मगर अपने आपकी खोटी भावना से अपना अनर्थ होता है, दूसरे का अनर्थ नहीं होता। केवल कल्पनाएँ ही बनाना है। तो ऐसी कल्पनाएँ जगे कि प्रभु का स्मरण बना रहे, गुरुओं के गुण ग्रहण करने योग्य बने रहें, सर्व जीवों में समता परिणाम रखने का भाव बना रहे, ऐसी कल्पनाएँ बने। और उन कल्पनाओं में कोई तत्त्व नहीं है। तो आशापूर्ण हैं, खुद भी दुःखी हो रहे हैं और उस आशा की पूर्ति करने में जो चेष्टाएँ करेंगे, उन चेष्टाओं से अन्य लोग भी दुःखी होंगे। अपना श्रद्धान् सही है,

अपना ज्ञान सही है, अपना आचरण निर्मल है तो इसके लिए जगत में अन्य-अन्य जीव भी लोकव्यवहार में शरण हो जायेंगे और खुद तो शरण होगा ही। इससे शान्ति प्राप्त करने के लिए अपने आपके श्रद्धान् ज्ञान आचरण का प्रयत्न करना चाहिए।

श्लोक-1090

यदसाध्यं तवोनिष्ठैर्मुनिभिर्वीतमत्सरैः।

तत्पदं प्राप्यते धीरैश्चित्तप्रसरबन्धकैः॥1090॥

चित्तप्रसरबन्धक पुरुषों द्वारा तपोनिष्ठजनासाध्य पद की भी प्राप्ति—जो योगीश्वर मन के फैलाव को रोक देते हैं अर्थात् चित्त की शुद्धि प्राप्त कर लेते हैं वे पुरुष जिस आनन्दमय उत्कृष्ट पद को प्राप्त कर लेते हैं उस तब को बड़े-बड़े तपोनिष्ठ जो कि मत्सर आदिक गुणों से भी रहित हैं, फिर भी वे मुनीश्वर उस पद को प्राप्त नहीं कर पाते तो चित्त का फैलाव वे रोक नहीं सके। आत्मा की शुद्धि है कहाँ? एक चित्त वश गया। बाह्य पदार्थों की आशा का परित्याग किया और वहाँ उसे निराकुलता, समृद्धि अपने आपके स्वरूप में मग्नता ये सब बातें प्राप्त हो जाती हैं। कारण यह है कि आत्मा तो स्वभाव से आनन्दधाम है। केवल हमारे उपयोग में जो बाह्य विषयों की आशा का कलंक आया है उसके कारण यह अपने आपमें बसे हुए सरस आनन्द को प्राप्त नहीं कर पाता। तो इतनी बड़ी बात एक मन के फैलाव को रोक देने से प्राप्त होती है। कोई बड़े-बड़े सांसारिक कष्ट नहीं सह सकता। बड़े-बड़े तपश्चरण नहीं कर पाता, न करे, लेकिन जो एक केवल मन के रोकने भर की बात है, ज्ञान को सम्हालने भर की बात है, अपने आपको अपने ज्ञान को लाने भर की बात है उतनी बात यदि नहीं बन सकी तो फिर कुछ भी न बन सका। केवल एक ज्ञान द्वारा साध्य है। क्रोध, मान, माया, लोभ इन बैरियों को जीतना है। और दुःख है केवल इन कषायों का। जीव को कषाय के सिवाय और क्या दुःख है? बाह्यपदार्थों से दुःख की परिणति आती नहीं। प्रत्येक परिस्थितिमें जितने भी क्लेश हैं वे सब अपने कषायभाव के हैं। कोई काम अति आवश्यक भी है पर उससे दुःख नहीं है। दुःख है उस काम विषयक विकल्प बनाने का। किसी वस्तुविषयक क्लेश के उठाने में लोग कहते हैं कि इसमें क्लेश उठाने की विवशता है लेकिन विवशता कुछ नहीं है। लोग पराधीनता मानते हैं पर तत्त्वतः तो वहाँ भी केवल अपने कषायों की विवशता है और उन विकल्पों से वे दुःख भोगते हैं। तो केवल ज्ञानसाध्य है यह बात कि क्रोध, मान, माया, लोभ बैरी जीत लिए जायें और आत्मा शुद्ध आनन्द के पद को प्राप्त कर ले।

परमानन्दधाम लाभ के इच्छुक जनों को चित्तप्रसार के कर्तव्य का संदेश— परम आनन्द के लाभार्थ चित्त का प्रसार रोकने का यत्न होना चाहिए। यह बात तब सम्भव है कि जब हमें ऐसे ज्ञान की दृष्टि का सुयोग बहुत काल मिले और जो चित्त का प्रसार रोकने के इच्छुक हैं, रोकते हैं। ऐसे प्राणियों की भी संगति अधिक मिले, हमारा उपयोग बदले तो चित्त का प्रसार रुक सकता है, वह ज्ञान से बदले, निकट में रहकर बदले, बदलेगा ज्ञान से ही पर बाह्यसाधन और कुछ भी रह जाय वह भी एक साधन बनता है पर केवल बाह्यतपश्चरण पद प्राप्त करना सम्भव है। आध्यात्मिक तपश्चरण होना चाहिए और आध्यात्मिक तपश्चरण यह है कि मन का संयम बने, विचार आया कोई खोटा, किसी पाप सम्बंधी कार्य करने का मन में विचार उठा तो उसे कतर देना, उस पर नियंत्रण करना, उसको किसी भी प्रकार डाल देना इस तरह का जो अन्तः प्रयत्न कर सकता है वह पुरुष उस आनन्दधाम को प्राप्त कर सकता है। जब कषायभाव रहता है तो यह बात अति कठिन मालूम होती है। किन्तु जब विवेक रहे, कषाय की मंदता रहे तो उसे स्वयं यह मार्ग मिलता है। अपने मन को वश करने का और अपने ज्ञानस्वरूप की ओर मुड़ने का उसे मार्ग स्वयं मिलता है, तब ही जानता है कि यह तो बहुत सुगम काम है। इसमें न किसी दूसरे मनुष्य की आधीनता होती है, न किसी बाहरी पदार्थ की आधीनता है। सुगम कार्य तब जँचता है जब इस मार्ग पर भी थोड़ा चलने लगते हैं तो मन का प्रसार रोकने से उत्तम बुद्धि की प्राप्ति होती है, इसी का नाम है मन की शुद्धि। इन्द्रिय के विषयों में मन न लगे, इज्जत हो, पोजीशन बढ़े, कीर्ति बढ़े, मेरा नाम जाहिर हो, लोग मुझे समझें कि यह भी कोई खास पुरुष है। ये मन के विषय हैं। तो इन्द्रिय और मन के विषयों में इस मन को न जोड़ें और मन चलित होता है तो इसे कुछ अच्छे कार्यों में लगा दें। जैसे दीन दुखियों का उपहार करना, प्रभु की भक्ति करना, तत्त्व का विज्ञान करना, संतों की उपासना करना आदिक जितने भी शुभोपयोग के कार्य हैं उन कार्यों में मन को लगा दें और प्रयत्न यह करें कि यह मन पूरी तरह से रुक जाय और मैं सहज ही अपने आपमें विश्राम पाकर अपने केवल स्वरूप की अनुभूति कर लूँ, ऐसा यत्न होना चाहिए। इस तरह की चित्तशुद्धि जिसमें होती है वह इस ज्ञानानन्द के परम उत्कृष्ट धाम को प्राप्त कर लेता है।

श्लोक-1091

प्रनन्तजन्मजानेककर्मबन्धस्थितिदृढा।

भावशुद्धिं पन्नस्य मुनेःप्रक्षीयते क्षणात्॥1091॥

भावशुद्धि को प्राप्त मुनि के शीघ्र कर्मप्रक्षय—जो योगी भावशुद्धि को प्राप्त होते हैं उनके पहिले भव भवान्तरों में बांधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, इस ज्ञान द्वारा यह सब कुछ व्यवस्था चल रही है। जब यह ज्ञान ज्ञानवृत्ति से न रहकर रागद्वेष में फँसकर अज्ञान आचरण करने लगते हैं तो वे पूर्वकृत कर्म और अधिक उद्दण्ड होते हैं, इसे फल पहुँचाते हैं, यथाशक्ति जितना कि ज्ञान और विवेक उत्पन्न होता है, जितना बन सके अपने विकार में कषाय में न जुड़े अर्थात् उनसे अपने को भिन्न मानते रहें, अपनी ओर अधिक आर्यें तो वे सब कषायभाव विकारभाव यथायोग्य कुछ न कुछ शिथिलता को प्राप्त होते हैं। तो जो मुनीश्वर ऐसे भावों की शुद्धि को प्राप्त होता है उसके भव-भव के बांधे हुए कर्मदूर हो जाते हैं। तो बताओ— जिन्हें चिरकाल से करते आये हैं— आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन संज्ञाओं में चिरकाल से बसे आये हैं, किसी भी बाह्य पदार्थ को अपना वैभव मान लेना, अपने शरीर की मौज में अपने आपको उत्कृष्ट मानना ये सारी बातें चिरकाल से चली आयी हैं और उनमें ही अभी पगे रहे तो जैसे अनन्तकाल इतनी त्रुटियों में बीत गया है ऐसे ही यह रहा सहा शेष जीवन भी व्यतीत हो जायगा। फिर होगा क्या सो सभी जानते हैं। मरण सर्वथा होगा फिर जन्ममरण करते रहेंगे। यह एक बहुत उत्कृष्ट भव मिला है, अन्य गतियों की अपेक्षा एक विशेष ज्ञान प्राप्त है तो एक इस भव को इस चर्या में व्यतीत करें। मुझे कोई जाने अथवा न जाने इससे भी क्या, लोग मुझे कुछ बड़ा समझें, न समझें इससे मुझे क्या? यह तो समस्त संसार मायारूप है। सभी लोग यहाँ मेरी ही तरह कर्मबन्धन से बंधे हुए। विकारों से दुःखी हुए, जन्ममरण का तांता लगाये हुए चले जा रहे हैं। कोई यहाँ मेरा प्रभु है क्या? किसकी दृष्टि में हम बहुत अच्छा बनना चाहते हैं? जरा विवेक बनायें और यह निर्णय रखें मैं यदि अपने ज्ञान में अपनी समझ में अच्छे आचार विचार से रह सका तो उसमें तो लाभ है, शेष बाह्य शरीर जीवों पर एक दृष्टि रखकर उनको प्रसन्न करने के लिए हम विकल्प बनाते रहें इसमें रंच लाभ नहीं है। एक भव यदि ऐसे ही व्यतीत हो जाय तो उन अनन्त भावों में से एक भव की ही बात कह रहे हैं, कोई नुकसान हो जाता है क्या? यहाँ के सभी दृश्यमान पदार्थ विघट जायेंगे। पूर्वभव में भी जो कुछ समागम प्राप्त था वह आज कुछ भी साथ है क्या? कुछ भी तो साथ नहीं है। यह एक आत्मध्यान के सम्बन्ध की बात कही जा रही है। जब आत्मा का ध्यान करें, उपासना करें तो वही मार्ग अपनाता होता है, वहाँ यह शंका नहीं उठना चाहिए तो क्या हम लोकव्यवहार में ऐसे ही मरे से बने रहें? अरे व्यवहार की बात व्यवहार में है और चाहने से अथवा अपने किसी यत्न से ही कोई बात नहीं बनती है। योग्यता है उपादान है और फिर वैसा साधन है तो सुगमता से व्यवहार में एक उच्च होने की बात बनती है। लेकिन जब आत्मशान्ति का एक प्रोग्राम बनाना है, हम एक उस अद्भुत विलक्षण तत्त्व को निरखने के लिए जब कुछ कमर कसकर आये हैं तो अपने उसके ही अनुकूल भाव आना चाहिए, मुझे कोई माने न माने उससे क्या? यह मैं अपनी दृष्टि में ही यदि गिरा हूँ, पाप करने में कारण हम ही रहते हैं तो मैं उठ नहीं सकता और मैं अपने आपमें अच्छा परिणाम बनाने के कारण अपने गौरव को प्राप्त हूँ तो हमारे लिए यह में शरण होऊँगा।

मन की शुद्धि से भावों की विशुद्धि में प्रकर्षता— मन की शुद्धि से भावों की शुद्धि प्राप्त होती है तो अनन्त जन्मों के अनेक कर्मबन्धों की दृढ़ स्थिति भी क्षणमात्र में नष्ट हो जाती है। भावशुद्धि में सर्वप्रथम तो यह बात होनी चाहिए कि इस विश्व में मेरा कोई भी जीव विरोधी नहीं है, कोई भी मेरा शत्रु नहीं है, यही वास्तविक बात है। कोई किसी का शत्रु बन ही नहीं सकता, लेकिन लोक में जो देखा जाता है कि किसी से किसी की शत्रुता तो है, जानमाल सब हड़पने का यत्न रखते हैं, फिर भी एक अध्यात्मदृष्टि से सोचो तो वहाँ पर भी कोई किसी का शत्रु नहीं है। इसका कारण यह है कि सभी जीव अपी-अपनी आशा लगाये हुए हैं, अपनी-अपनी इच्छा बनाये हुए हैं, अपना-अपना ही वे सुख प्राप्त करना चाहते हैं, तो सुख प्राप्त करने के लिए उनको ऐसी ही कल्पना जगी और वे अपनी ही इस वेदना को शान्त करने के लिए ऐसी चेष्टा किया करते हैं। वे यद्यपि मेरे पर उपद्रव करने के लिए उपद्रव नहीं ढा रहे हैं किन्तु वे अपने आपमें सुखी होने के लिए जो कि उनकी कल्पना में समायी हुई बात है उस चेष्टा को कर रहे हैं। जगत में कोई भी जीव मेरा विरोधी नहीं है। ऐसी बात हृदय में समा जाय प्रथम तो भावशुद्धि यह है। यह है केवल एक ज्ञान की बात है, इसमें कोई अधिक श्रम नहीं करना है, कोई शारीरिक चेष्टा नहीं करना है, एक चित्त में निर्णय कर लेने भर की बात है। कोई जीव मेरा विरोधी नहीं है। देखो ऐसा भाव रखने में और ऐसी दृष्टि बनाने में कितना अद्भुत आनन्द जगता है ऐसा भाव बने कि किसी भी जीव के प्रति मेरी मात्सर्य की बुद्धि न रहे, इससे चित्त में एक निर्मलता प्रकट होती है, उसके कारण एक अद्भुत आनन्द जगता है, और इस ही आनन्द के अनुभव के कारण पूर्व बंधे हुए कर्म भी नष्ट हो जाया करते हैं। अपने पर जो बोझ लदा हुआ है कर्मों का, सूक्ष्म अथवा स्थूल वातावरण का उन सबको हटाने का उपाय केवल भावशुद्धि है। कोई पुरुष किसी का अपराध भी कर ले, पीछे वह पछतावा या गलती मान ले या वैसी हठ न करे तो लोग उसे भी क्षमा करते हैं, छोड़ देते हैं, उस पर उपद्रव नहीं ढाते। ऐसे ही यद्यपि हमने पूर्वसमय में अपराध किया था और कर्मबन्ध किया था अब उनके उदयकाल में या उस वातावरण के कारण बहुत बड़ा उपद्रव आना था, लेकिन उससे पहिले विवेक जग जाय अपने अपराध पर पछतावा आये और ऐसी सूक्ष्मदृष्टि करे कि अपराध भी हो तो उसके द्रव्यस्वभाव के कारण नहीं हुआ, वह भी परिस्थिति थी, औपाधिक भाव था। मैं तो शाश्वत चैतन्यस्वरूप हूँ, एक द्रव्यदृष्टि का माध्यम लेकर जरा इस ओरभी चित्त दें कि मेरे स्वरूप में विरोध कहाँ है? हो अपराध पर मेरे स्वरूप में न था वह मिथ्या हो अर्थात् अब कभी न था या होता है तो वह अज्ञान में था ऐसे ही ज्ञाता रहें, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस तरह चैतन्य मूर्ति निज अंतस्तत्त्व की ओर दृष्टि लगे तो वहाँ है परमभावशुद्धि। ऐसी भावशुद्धि को प्राप्त जो भी संत महंत योगीश्वर होगा। उसके भवभव के बांधे हुए कर्म भी क्षण मात्र में दूर हो जाते हैं।

स्वानुकम्पा का कार्य— भैया ! बात करनी है अपने आपको सुखी करने की। लोगों पर ऐहसान देने की नहीं, लोगों में कुछ कहलवाने की नहीं किन्तु समस्या है अपने आपकी। हम कैसे सुखी हो सकें? उसका

उपाय यही है भावशुद्धि। उससे प्राथमिकता इस बात की सोचें कि लोक में कोई भी जीव मेरा बैरी नहीं है, जब इस दिशा में भावशुद्धि बनने लगे तो जो-जो भी गुण चाहिए, जो-जो भी उपाय चाहिए वे सब उपाय सुगमता से बनने लगेंगे। जैसे क्षमा होना भावशुद्धि में आवश्यक है। तो जब किसी जीव को हम अपना विरोधी ही नहीं समझ रहे हैं तो उस पर क्रोध क्या आयगा? अथवा तीव्र कर्म विपाकवश क्रोध किया भी तो कुछ क्षण के बाद ही तुरन्त सम्हल जायेंगे। कोई जीव किसी दूसरे का विकल्प नहीं करना, यह सब अपने उपादान की बात है, योग्यता की बात है। विकल्प करेंगे तो दुःखी हो लेंगे, पर क्रोध करके हम किसी दूसरे का बिगाड़ करने में समर्थ नहीं हो सकते। हम केवल वहाँ अपना ही बिगाड़ कर रहे हैं। मेरा जो सत्यस्वरूप है ज्ञाताद्रष्टा रहने का स्वरूप है वह बिगाड़ गया क्रोधादिक करने से, तब हमने उस कषाय में अपना ही घात किया है। सो ज्ञानी पुरुष के भी कदाचित् क्रोध हो जाय तो कुछ क्षण के बाद तुरन्त अपने आपको क्षमा कर देता है। अपराध किया हमने और अपराध किया अपने पर। परमार्थ से क्रोध करके हमने अपने पर अन्याय किया, अपने पर अपराध किया। उसके बाद यह मूल भावना बनी कि मैंने क्रोध किया था वह कोई तात्विक बात न थी, हो गया था। मैं उससे न्यारा हूँ, शुद्ध एक चैतन्यमात्र हूँ ऐसी दृष्टि अपने आप पर आये तो हमने अब लो क्षमा कर दिया। जितने गुण चाहिए अपने आपके कल्याण के लिए वे सब गुण एक इस भावशुद्धि के होने पर प्रकट हो जाते हैं। जगत का कोई भी जीव विरोधी न जँचे, सब एक स्वरूप में जँचने लगे, सब जीवों का स्वरूप एक है, प्रतिभास स्वरूप ऐसा विशुद्धस्वरूप दृष्टि में रहे तो सब गुण अपने आप आ जायेंगे और सारे अवगुण अपने आप दूरहो जायेंगे। तब एतदर्थ हमें यह यत्न करना चाहिए तत्त्वज्ञान बनाकर कि मुझे सब जीवों का वह अन्तःस्वरूप जँचे जो देह में बंधा है। इस देहकुटी के भी पार इसमें भी न अटककर भीतर एक चैतन्यस्वरूप को निहारें, सबका स्वरूप यह है और सब अपने आपके स्वरूप में रहते हैं, कभी औपाधिक परिणमन भी है तो वह सबका अपना-अपना स्वरूप है, अतएव कोई जीव मेरा विरोधी नहीं है, यह भाव समाये तो यही है वह भावशुद्धि जिसके प्राप्त होने पर अनन्त जन्मों में उत्पन्न किये गये कर्म क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। अपने आपको सुखी करने की बात कह रहे हैं कि हम किसी जीव को अपना विरोधी न मानें और सब सुखी हों ऐसी अपनी भावना बनायें।

श्लोक-1092

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं प्रसन्नं ज्ञानवासितम्।
सिद्धमेव मुनेस्तस्य साध्यं किं कायदण्डनैः॥1092॥

स्थिरचित्त वाले मुनि के साध्य की सिद्धि का विनिश्चय:— जिस योगी का चित्त स्थिर है, प्रसन्न है, ज्ञान से वासित है, उस मुनि के साध्य साधक हो गए। अब काय को दण्ड देने से क्या प्रयोजन? चित्त में स्थिरता, प्रसन्नता और अपने ज्ञान में ही रहना ये तीन विशेषण दिए हैं जिनमें मुख्य तो है ज्ञान में रहना और उसके दो ये कारण हैं। जो चित्त स्थिर होगा, प्रसन्न होगा अर्थात् निर्दोष होगा सो ज्ञान में बसेगा, सब कुछ इस मन माया का खेल है। यह मन बाहरी विषयों में जब दौड़ लगाये फिर रहा है कभी किसी को, कभी किसी को ग्रहण किया, राग किया, अपराध किया, इस मन की परिणति से ये सारी विडम्बनाएँ बन रही हैं। मनुष्य की बात कह रहे हैं, अन्य जीव जिनके मन नहीं होता वे भी विषयों के नाते तो ऐसे ही काम किए जा रहे हैं। भले ही मन का सहयोग न होने से पशु-पक्षी कलात्मक ढंग से नहीं कर पाते, आहार संज्ञा जैसे मनुष्यों में लगी है और उससे प्रेरित होकर उस ही विषय में रहा करते हैं, यह बात एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक सभी जीवों में लगी हुई है। मनुष्य के मन है सो वह कलात्मक ढंग से आहार संज्ञा की पूर्ति करता है। नाना प्रकार के स्वादिष्ट रसीले भोजन बनाये जाते हैं। ये बातें असंज्ञी जीवों में नहीं पायी जाती। तो यह एक मन का सहयोग इसे मिला है। जो मन हित और अहित के विश्व के लिए था उस मन को मन के असली काम में न लगाकर एक असंज्ञाओं में लगा दिया तो ये कलायें बन गयी। अन्य जीवों में कलायें नहीं हैं। मनुष्य के मन है तो भयसंज्ञा भी बड़ी कलात्मक ढंग से किया करता है। कितना भय लगा रखा है? और तर्क वितर्क करके भय लगा रखा है। जायदाद का कोई कानून बन जायगा तो क्या करेंगे? जमींदारी का जैसे कानून बन गया ऐसे ही यह भी सम्भव है। अथवा अन्य किसी देश ने इस पर आक्रमण किया तो क्या होगा अथवा अपने ही देश के लोग अधिकारीजन अप्रसन्न हो गए तो क्या होगा? कितना भय बना रखा है? क्या ऐसा भय इन कीड़ा-मकोड़ो को भी रहता है? ये तो तभी डरते हैं जब इनके समक्ष कोई उपद्रव आ जाय। चींटी चल रही है आपने हाथ से छेड़ दिया तो वह भय करके लौट जायगी, पर मनुष्यों को भय कितनी कलाओं से लगा हुआ है, पर भयसंज्ञा जैसे मनुष्यों को सताती है वैसे ही अन्य सब संसारियों को सताती है। मैथुन संज्ञा मनुष्य कितने कलात्मक ढंग से बड़ी रागभरी वाणी बोलकर पूर्ति करता है तो अन्य जीवों में असंज्ञी जीवों में यह विलक्षण नहीं है। वहाँ मन नहीं है, कलायें नहीं बनती, पर जैसा कुछ उसके मन में समाया है उस प्रकार उनके भी संज्ञा लगी है। परिग्रह संज्ञा में तो मनुष्य ने बड़ी होड़ सी मचा ली है। बड़ी कलायें कैसे-कैसे व्यापार, कैसी अन्य कलायें इन सब कलाओं से इस मनुष्य ने परिग्रह संज्ञा का एक ढाँचा विचित्र बनाया है। नहीं बना सकते हैं असंज्ञीजीव यों परिग्रहसंज्ञा का विस्तार, क्योंकि मन नहीं है लेकिन परिग्रहसंज्ञा इन सभी संसारी प्राणियों में है और वे अपने भावों के अनुकूल अपनी योग्यतानुसार जो शक्ति उनके प्रकट हुई है तदनुसार वे भी परिग्रह संज्ञा में लगे हैं। तो यहाँ मनुष्यों को मन मिला है, इस मन के कारण इसने अपना वैभव बढ़ाया है। कार्य तो यह था कि इस मन के द्वारा विवेक जगता, पापों से दूर होते और अपने ज्ञान में बने रहते। ज्ञानवासित मन हो जाय तो समझिये कि साध्यसिद्ध हो गया। साध्य है निराकुलता, शान्ति,

परमविश्राम, वह मुझे मिल गया समझिये। जिसका चित्त ज्ञानवासित हो गया उसके लिए निर्दोषता और स्थिरता की आवश्यकता है। जिसका मन स्थिर हो गया, प्रसन्न हो गया और ज्ञान में वासित हो गया उस मुनि का साध्य सिद्ध हो गया। अब काय के दण्डन से लाभ क्या है?

श्लोक-1093

तपः श्रुतमयज्ञानतनुकलेशादिसंश्रयम्।

अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुषकण्डनम्॥1093॥

अनियन्त्रित चित्त वाले मुनि के तप आदि की व्यर्थता:— जिस मुनि का चित्त अनियन्त्रित है, यों समझिये कि जैसे मदोन्मत्त हस्ती किसी खूँटे से न बंधा हो तो वह अनियन्त्रित रहता है और लोक में क्षोभ मचाता है ऐसे ही यह मनरूपी हाथी जब ज्ञान के खूँटे से बंधा हुआ नहीं रहता है तो यह अनियन्त्रित हो जाता है और लोक में क्षोभ मचाता है। हैं कौनसा ऐसा विषयभूत अर्थ जिस जगह इस चित्त को लगा दें तो यह स्थिर और नियन्त्रित हो जाय, सोच लीजिए। इन्द्रिय के विषयों में और मन के विषयों में तो कुछ ऐसा मिलेगा नहीं। इन्द्रिय और मन के विषयभूत पदार्थ तत्त्व विभिन्न हैं और विनाशीक है तथा पर हैं। इन तीन बातों के कारण यह चित्त स्थिरता से उनमें ही किसी में टिक नहीं पाता। मन का ही विषय ले लो तो प्रथम ही प्रथम तो इसको थोड़ी यश की चाह रहती है। पहिले कोई ऐसी इच्छा जगी कि मैं इस कस्बे का एक सदस्य बन जाऊँ, फिर उससे भी तृप्ति नहीं होती। फिर वह तहसील का, फिर जिले का, फिर देश का, फिर विदेश का कुछ न कुछ पद प्राप्त करने की इच्छा करता है। धीरे-धीरे सारे विश्व का कुछ बनने की इच्छा करता है। चित्त टिक नहीं सकता क्योंकि मन के वे सब विषय विभिन्न हैं, पर हैं और विनाशीक हैं। कोई ऐसा तत्त्व मिले तो विभिन्न न हो, विनाशीक न हो और पर न हो, वहाँ चित्त जमाया जाय तो सफलता मिलेगी। ऐसा कौनसा तत्त्व है जो विभिन्न नहीं है? वह है अपना ज्ञानस्वरूप। यह विभिन्न नहीं है, सदा एकरूप है। ज्ञानस्वभाव की बात कह रहे हैं, परिणमन की बात नहीं कह रहे हैं। संसार अवस्था में ज्ञान का परिणमन विभिन्न चल रहा है वह भिन्न है और विनाशीक है, औपाधिक होने के कारण पर भी है उसकी बात नहीं कह रहे हैं, किन्तु एक अपना शाश्वत स्वभाव ज्ञानमात्र ज्ञायकस्वरूप वह विभिन्न नहीं है, पर भी नहीं है, स्वयं स्वतंत्र है और विनाशीक भी नहीं है। उसमें चित्त लगायें। जैसे कि हम पदार्थों को जानते रहते हैं, जानने का यत्न करते हैं यों ही इस ज्ञायकस्वरूप को जानने में लगें, इसका ही यत्न करें तो हम इस ओरभी चित्त को लगा सकते हैं, ज्ञानवासित बना सकते हैं। तो यों ज्ञानवासित चित्त हो जाय अर्थात् नियन्त्रित हो जाय, निज

एकरूप शाश्वत ज्ञानस्वरूप में नियंत्रित हो जाय तब तक उस योगी का साध्य सिद्ध है। यदि ऐसा नियंत्रण न बन सका और विषयों में भटक रहा है मन तो ऐसे मन वाले योगी के ये सारी बातें तपश्चरण करें, शास्त्राभ्यास करें, यम नियम आदिक करें, जितने भी ये सब एक साधनभूत कार्य हैं वे तुस खण्डन की तरह हैं। जैसे चावल निकल गए धान से तो अब उस भुस के खण्डन से क्या सार मिलेगा? कुछ भी नहीं। ऐसे ही सार बात तो ज्ञानवासित मन को बनाना था, अपने आपमें उसे नियंत्रित करना था। अब जब नहीं किया जा सका तब चाहे कितना ही तपश्चरण हो, ज्ञानार्जन हो, बड़ा त्याग हो, वह सब भी तुसखण्डन की तरह है।

श्लोक-1094

एकैव हि मनःशुद्धिर्लोकाग्रपथदीपिका।

स्खलितं बहुभिस्तस्य तामनासाद्य निर्मलाम्॥1094॥

लोकाग्रपथदीपिका मनःशुद्धि के बिना मोक्षमार्ग से स्खलनः— मन की शुद्धि ही मोक्षमार्ग में प्रकाश करने वाली एक दीपिका है उसको निर्मल न पाने से अनेक मोक्षमार्गी पुरुष अपने पथ से च्युत होते हैं। मन शुद्ध होता है इन्द्रिय और मन के विषय में न जुड़ने से। मन की शुद्धि और किसी भाँति नहीं है कि कोई ऐसा पौद्गलिक तत्त्व नहीं है कि जिसे साबुन से पानी से रगड़ा जाय तो शुद्ध हो जाय। मन की पवित्रता है विषय और कषायों को ग्रहण न करने से। पूजा में भी बोलते कि जो मन परमात्मतत्त्व का ध्यान करता है वह पवित्र है। चाहे शरीर अपवित्र हो, पवित्र हो, किसी अवस्था में हो, किसी तरह बैठा हो, यदि प्रभुता में स्मरण है तो वह मन पवित्र है। मन की पवित्रता है विषयों में प्रवृत्ति न होने से, परिग्रह में चित्त आसक्त न होने से। यों समझ लीजिए कि चार प्रकार के आर्तध्यान और 4 प्रकार के रौद्रध्यान जिस चित्त पर हामी नहीं हैं वह चित्त पवित्र है। तो सब कुछ बात हमारे मन की पवित्रता पर निर्भर है। हम धर्मधारण के लिए बहुत श्रम करते हैं, नहाना, मंदिर जाना, पूजन करना, बहुत समय जाप सामायिक में लगाना यह सब करते हैं, पर यह भी तो सोचना चाहिए कि हमने अपने मन को कितना पवित्र बनाया है क्यों पवित्रता पर ही धर्म का विधान होता है अन्यथा वे सब-सब शरीर के क्लेश हैं और मन की पवित्रता जानने के लिए यह हमें अपना हिसाब देखना चाहिए कि हमने कामविषयक विकल्प कितने बनाया और कितनी प्रवृत्ति की और कामवासनारहित एक विशुद्धता में अपने मन को कितना रखा, हम खाने-पीने के चक्र में, चिन्ता में, वासना में कितना रहते हैं और उसके विकल्प से दूर कितने समय रहते हैं? लोग जरा-जरासी बात को सोचते नहीं हैं चलते-चलते खाना, दुकान पर खड़े-खड़े खाना, जब चाहे खा लेना यह सब क्या है? यह ध्यान की अपात्रता बनाने वाला काम है।

बारबार का खाना, जहाँचाहे खड़े होकर खा लेना और भक्ष्य अभक्ष्य का ध्यान न रखकर खा लेना ये सब ध्यान की अपात्रता बढ़ाते हैं।

विषयविरक्त व ज्ञानोपयुक्तता में मंगलरूपता का लाभ:— जिसका चित्त विशुद्ध है, पवित्र है, ज्ञान की ओर लगता है उसके चित्त को इतनी फुरसत कहाँमिल पाती है जिससे चित्त विषयों में फँसे। छोटी-छोटी सी बातें भी हमें कल्याण से बहुत दूर रखती हैं? हम यह भी हिसाब देखें कि हमने खानपान की आसक्ति में कितना मन को लगाया है, कितना हमने भोजनपान आहार की धुन बनाया, इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय के विषय में भी बात देखें। किन्हीं-किन्हीं का ऐसा मिज़ाज होता कि खूब सामने गुलदस्ते धरे हों तो मन ठिकाने रहता है। बहुत से फूल पास में पड़े हों, इत्रदान रखा हो, काट के कालर में अथवा नेकटाई में इत्र लगा हो, खूब सुगंध मिल रही हो तो उसमें चैन मानते हैं। कोई कह सकता है कि इसमें क्या बिगाड़ हो गया? तो भाई बाहर में तो कुछ बिगाड़नहीं दिख रहा पर जब चित्त घ्राणइन्द्रिय के विषयों में जम रहा है, उनकी ओर लग रहा है तो हम इस आत्मप्रभु से तो बड़ी दूर हो रहे हैं। यह तो महान बिगाड़ है। अब इन्द्रिय के विषयों की बात निरखें। हम जिस रूप को जिस रंग को सुहावना समझते हैं वह सुहावना एक कल्पना से हुआ करता है। उसने देखने के लिए हमने अपने नियन्त्रण को कितना तोड़ दिया, लाज को हमने कितना दूर किया, बड़ों की आन को हमने कितना मिटाया? इन बातों का भी हिसाब लगायें, ऐसी ही कानों की बात है। रागभरे शब्दों के सुनने में कितना हम मौज लेते हैं और राग को बढ़ाने वाली कथावों में हम कितना चित्त देते हैं उसका भी हिसाब लगायें, और मन की उड़ान तो बहुत-बहुत है, उसे संक्षेप में कहा जाय तो यों सोचिये कि मेरा मन मेरे इस विशुद्ध स्वरूप में कितना लगता है और अतिरिक्त अन्य-अन्य बाह्यपदार्थों में कितना जाता है, उसका हिसाब देखें, उसका खेद तो करें और जितना बन सकता हो उतना यत्न करें कि उससे हटकर हम अपने आपके इस ज्ञान में चित्त को बसायें, गलती तो गलती भी समझ लें, त्रुटि मानते रहें तो उसका कुछ न कुछ आचरण माना जायगा। त्रुटि को त्रुटि मानना भी एक सत् आचरण है। हमने कितना अपना अपराध समझा है उसका कुछ हिसाब तो देखें। धनवैभव परिग्रह के जोड़ने में अथवा तृष्णा बढ़ाने में, बाह्यवैभव में ही चित्त देते रहने में हम कितना योगदान करते हैं और अपने आपको अकिञ्चन निष्परिग्रह अनुभव करने में कितना प्रयत्न करते हैं, उसका भी हिसाब लगायें। यद्यपि गृहस्थावस्था में परिग्रह का काम करना ही पड़ता है। जिसके पास नहीं है पैसा वह गृहस्थी नहीं निभा सकता लेकिन पैसा हमारे विकल्पों से अथवा हाथ पैर के परिश्रम से नहीं आता। ये भी कुछ थोड़े साधन बन जाते हैं पर उदय अनुकूल है, हमारा पूर्वकाल में धर्माचरण बना हो तो ये सब बातें सुगमता से प्राप्त हो जाती हैं, इसमें आसक्ति रखना, तृष्णा रखना, इसकी ओरही अपनी बुद्धि बनाये रहना यह योग्य नहीं है, ये सब मायारूप हैं। किसी दिन ये सब छूट जायेंगे।

निःसंगता में ही आत्मोद्धारः— हम परिग्रहों में अपने चित्त को कितना भ्रमाये रहते हैं और अपने को निष्परिग्रह अकिञ्चनरूप में कितना अनुभव करते हैं? मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, अमूर्त हूँ, अकिञ्चन हूँ, पर मैं मेरा कुछ नहीं लगा ऐसा हम अपने आपको कितने क्षण अनुभव करते हैं— कुछ निरखना चाहिए। इसीलिए तीन बार सामायिक बताया है। यह मनुष्य रात को 6 घंटा तो सोता ही होगा। तो उस सोये हुए टाइम को निकाल दो। फिर हिसाब लगा लो कि 6-6 घंटे के बाद सामायिक का टाइम आता है। सुबह सामायिक, फिर 6 घंटे के बाद में दोपहर में सामायिक, फिर 6 घंटे बाद शाम को सामायिक, फिर 6 घंटे सोने के बाद में सुबह की सामायिक। यह 6-6 घंटे बाद सामायिक के लिए क्यों बताया है? इसलिए बताया है कि उतने समय में मन में जो अपवित्रता आयी है उसे दूर कर मन को पवित्र बना ले। तो सबसे बड़ा कार्य है अपने मन को शुद्ध और पवित्र बनाये रहने का। यह बात बनेगी तत्त्वज्ञान से। विषयों में चित्त न रमे और अपने यश की वाञ्छा न बढ़ायें और दूसरे जीवों को किसी प्रकार दुःख पहुँचाने का भाव न रखें— ये तीन बातें बनती हैं तो अपने मन की पवित्रता समझिये। और नहीं तो चित्त गंदा है। जब कोई महापुरुष या नेता या राजा या आफीसरघर में आता है तो कितना अपने घर को स्वच्छ बनाते हैं तो हम मन को जहाँकि प्रभु आ सकते हैं, जिस हृदयमंदिर में प्रभु का आगमन हो सकता है वह हृदय यदि अपवित्र रहे तो वहाँ प्रभु कैसे आ सकते हैं? एक धार्मिक पद्धति का देश होने से सबके चित्त में यह उमंग रहती है कि हमें प्रभु के दर्शन हो जायें पर प्रभु के दर्शन तब मिलते हैं कि प्रभु पूर्ण निर्मल हैं तो हम भी यथाशक्ति अपनी निर्मलता बढ़ायें तो इस मार्ग से चलने पर हमें प्रभुदर्शन ही होगा और जब दर्शन होता है तब यह अपने आपमें निर्विकल्प एक सहज विलक्षण आनन्द का अनुभव करता है और उस स्थिति में यह खूब प्रभुता से मिल लेता है जिसमें आनन्द से छुक्ति हो जाता है। और जब यह आनन्द देर तब नहीं टिक पाता तो एक अफसोस होता है कि मैं इतने सुन्दर मिलन से बिछुड़ गया। तो प्रभु का मिलन उस चित्त में होता है जो चित्त पवित्र है, विषय कषायों में मुग्ध नहीं होता है। तो हर सम्भव प्रयत्नों से हमें अपने आपके मन में ये तीन बातें लाना चाहिए— मेरा विषयों में चित्त आसक्त न हो, यश नामवरी के लिए न लगे और जगत के सब जीवों को ये सुखी हों, मेरा कोई विरोधी नहीं, ऐसे एक स्वरसस्वरूप से उन सबमें एकमेक मिलन बने, ये तीन बातें बनें तो मन पवित्र हो तो धर्म मिल सकेगा।

श्लोक-1095

असन्तोऽपि गुणाः सन्ति यस्यां सत्यां शरीरिणाम्।

सन्तोऽपि यां विनां यान्ति सा मनःशुद्धिः शस्यते॥1095॥

मनःशुद्धि होने पर ही गुणों का अस्तित्व— जिस मन की शुद्धता के होने पर न होते गुण भी होते से बन जाते हैं और जिस शुद्धि के न होने पर होते गुण भी न होते हो जाते हैं वह मन की शुद्धि प्रशंसा के योग्य है। लोग कहते हैं कि व्यापार कुटिलता और कपट के बिना नहीं चलता और आपको ऐसे दो एक उदाहरण मिलेंगे आसपास की जो बहुत सरल व्यक्ति थे, जो कभी किसी का बुरा न विचारते थे, उनके चित्त में बुरा ध्यान ही नहीं होता और देखो तो ग्राहक उनके यहाँ ज्यादा आते हैं। तो लोगों पर यह विश्वास बन जाय कि यह दुकानदार सरल है और सच बोलने वाला है तो लोग ज्यादा आयेंगे। जो लोग झूठ बोलकर भी व्यापार चलाते हैं वे झूठ के बल पर नहीं चला पाते, ऐसा अगर ग्राहकों को मालूम पड़ जाय कि यह झूठ बोलने वाला है तो एक भी ग्राहक न आयगा। तो व्यापार भी सच्चाई के साथ चलता है। मन की शुद्धि जिसके हो गई है तो गुण न हों तो भी गुणी हो जाता है। होने से लगते हैं यह भी बात नहीं, किन्तु प्रकट हो जाते हैं, पर गुण विकास का कारण तो मन की शुद्धि है, आशय की शुद्धि है। आत्मा का अभिप्राय शुद्ध बने तो सब गुण अपने आप प्रकट हो जाते हैं। सो कोई गुण के वाक्य की बात नहीं किन्तु जब आनन्द होता है जीव को तब गुण विकासपूर्वक ही हुआ करता है, अतएव गुण विकास को महिमा दी है। महिमा तो सब शान्ति की है। अपने आपमें आनन्द प्रकट हो जिस उपाय से वह उपाय करना है। कदाचित् ऐसा होता है कि गुण एक भी प्रकट नहीं होता और आनन्द पूर्ण मिल जाय तो फिर गुणों से क्या हमारा लेनदेन? हो तो हो, न हो तो न हो, हमें तो आनन्द चाहिये पर आनन्द की विधि ही ऐसी है कि गुणविकास होगा तो होगा। आनन्द का अर्थ ही यह है कि जो चारों ओर से आत्मा को समृद्ध बना दे। सुख का नाम, निराकुलता का नाम, शान्ति का नाम आनन्द नहीं, किन्तु आत्मा की समृद्धि का नाम आनन्द है और उस आत्मसमृद्धि में यह खूबी है कि वहाँ पूर्ण निराकुलता रहती है। आनन्द का तो वास्तविक अर्थ यही है कि वह आत्मा को पूर्ण समृद्ध बना दे। यह समृद्धि आत्मशुद्धि होने पर होती है, विषयों की वासना न रहे, किसी के प्रति द्वेष की बात न उमड़े और अपने आपके सहज स्वरूप की ओर दृष्टि जाय, यही है मन की शुद्धि।

मनःशुद्धि के उपाय—मन की शुद्धि जिन उपायों से बने उन उपायों के सम्बन्ध में पूजक रोज कह लेते हैं पूजा में—

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः सङ्गतिः सर्वदार्यैः,

सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।

सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे,

संपद्यन्ताम् मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः॥

हे प्रभो ! ये 7 चीजें मुझे भव-भव में प्रकट हों जब तक कि मेरा मोक्ष न हो। वे 7 बातें क्या हैं? शास्त्राभ्यास— इससे मन की शुद्धि बनती है। उपन्यास पढ़ने वालों का चित्त कैसा भयभीत, चिन्तातुर, कामातुरसा बना रहता है और इन साधु संत पुरुषों की वाणी सुने, उसका स्वाध्याय करे तो आत्मबल बढ़ाने का एक उत्साह जगेगा। तो मन की शुद्धि के लिये शास्त्राभ्यास एक मुख्य उपाय है। ये सब आत्मशुद्धि के उपाय हैं। आत्मा और मन में इस समय भेद यों नहीं डाल रहे हैं कि हमें इस समय जो करना है उस कर्तव्य का रिश्ता जितना मन के साथ है उतना ही आत्मा के साथ है। यहाँ मन से मतलब पौद्गलिक मन से नहीं पर भाव मन से है। प्रथम उपाय हे शास्त्र का अध्ययन करना। दूसरा उपाय है— जिनेन्द्र भगवान के चरणों में नमस्कार विनय ध्यान बना रहना। इससे मन शुद्ध रहता है। तीसरा उपाय है सत्संगति। श्रेष्ठ पुरुषों के साथ अपना संग बनाये रहना इससे भी तत्काल प्रभाव पड़ता है। इसका उपाय है सत्चरित्र के गुणों की कथा करना। देखिये—जो महान होते हैं, बुद्धिमान होते हैं, विद्यावान होते हैं, पंडित होते हैं अर्थात् विवेक को जिनकी बुद्धि प्राप्त हुई है ऐसे जन होते हैं उनकी चर्चा भी अलग होती है। दुनिया में ऐसे मनुष्यों की संख्या ज्यादा मिलेगी जो एक दूसरे की निन्दा आलोचना में लगे रहते हैं। विद्वान होंगे तो आलोचना भी उस कला के ढंग से करेंगे और ऐसे ही हुये तो वे अपने पड़ोसियों के प्रति अन्य के प्रति भी निन्दा आलोचना की बात करेंगे। ऐसे बुद्धिमान विवेकी बिरले ही होंगे जिनके मुख से सत्चरित्र के गुणों की कथा तो मुँह पर आये और दूसरे के दोषों के कहने में मौज न रहे। और, मन की शुद्धि इन्हीं उपायों से है। जिस समय हमने दूसरों के अवगुणों पर दृष्टि दी या अवगुण परखने के लिये यत्न किया तो अवगुणों पर ज्ञानदृष्टि डाले बिना तो बखान नहीं सकते और उस पर दृष्टि डालने का अर्थ यह है कि हम अपने उपयोग में उन अवगुणों को पहिले आत्मसात कर लें, ज्ञेय कार बना लें, उन्हें रुचि से ग्रहण कर लें तो रुचि से बखान सकेंगे। तो हमने अपने को बहुत मलिन कर लिया और उस मलिनता का फल भोगना किसी दूसरे को न पड़ेगा। तो मनशुद्धि के उपाय में ये दो भी उपाय अच्छे हैं कि गुणियों के गुणों की कथा करना और दूसरों के दोष कहने में मौन ग्रहण करना। यह सब मनशुद्धि के उपायों में लगा लेना चाहिये। छठी बात है— सब जीवों पर प्रिय हित वचन व्यवहार करना। कुछ लोगों की आदत जैसे मनुष्यों को गाली देने की होती है इसी तरह वे पशुओं को भी गाली देते हैं। वही गाली, उनकी दृष्टि में पशु भी वैसे ही, मनुष्य भी वैसे ही, मनुष्य और पशु इन दोनों को एक तुल्य मान लेते हैं। जैसे गाली मनुष्य को मनुष्य के प्रतिकूल होने पर दिया करते हैं वैसे ही गाली बैल, घोड़ा, भैंस इनके प्रतिकूल होने पर या अनुकूल न चलने पर दिया करते हैं। तो अप्रिय और अहित वचन बोलने का प्रभाव स्वयं पर पड़ा। और दूसरा भी अपने में प्रभाव बना लेगा तब तो लड़ाई ठन जायगी।

तो सब जीवों पर प्रिय हित वचन व्यवहार करना यह आत्मशुद्धि का, मनशुद्धि का उपाय है और आत्मतत्त्व में भावना करना मैं सिद्ध समान शुद्ध चैतन्यस्वभाव वाला हूँ, अन्तर है पर रुचि का ऐसा चमत्कार है, उसकी ऐसी प्रकृति है कि जिनमें रुचि नहीं हैउनको तोड़ फोड़कर, उनको न छूकर रुचि के विषयभूत पदार्थों में यह दृष्टि गड़ जाती है।

अन्तस्तत्त्व के रुचिया सन्तों की अवाध सदृष्टि— जिसकी आत्मस्वभाव पर रुचि है वह पुरुष यथार्थ को भी भेदकर जो गुजर रही है उसमें भी न अटककर ज्ञानस्वभाव पर पहुँच जाता है। किसी की रुचि किसी अन्य जगह रहने वाले किसी जीव पर है तो घर में रह रहे हैं सभी माता पिता आदिक इनको हित जान लिया। इनकी दृष्टि उनमें नहीं अटकती है, जिस पर दृष्टि है वही पहुँचती है। तो रुचि अन्तस्तत्त्व की बने तो वह पुरुष आज यद्यपि किसी विषय पर्याय से परिणत है, वह मनुष्यभव में है, अनेक बन्धन हैं लेकिन इसकी दृष्टि में न भव है, न बन्धन है, न परिणति है, होते हुए भी इसकी दृष्टि में नहीं है जबकि इस ज्ञानी की भावना आत्मतत्त्व में पहुँचती है। उस समय यह अपने को एक स्वरूपमात्र निरखता है। उसका यदि विश्लेषण करें तो फिर निषेध रूप में कह लो। उस समय यह अपने को भवरहित, परिणतिरहित, बन्धनरहित निरखता है, यों नहीं निरखता पर उसकी तारीफ बतायी जा रही है। यह तो किसी विध्यात्मक रूप को निरखता है, प्रतिषेधरूप से नहीं। अनुभव के काल में निषेध का ध्यान नहीं है। जो हे उसका सद्भावात्मक परिणमन है। मन की शुद्धि होने पर आत्मशुद्धि होने पर फिर यह आत्मतत्त्व की भावना ऐसी दृढ़ हो जाती है कि इसे अपवर्ग प्राप्त होता है। अपवर्ग मायने है मोक्ष, पर एक तारीफ की भाँति है। अपवर्ग का अर्थ है वर्गरहिता। जैसे पदवी से अपवर्ग दूर हो गये हैं। वर्ग हैं तीन—धर्म, अर्थ, काम, ये तीन वर्ग जिस भाव में नहीं हैं उस भाव का नाम है अपवर्ग। और मोक्ष का अर्थ है छुटकारा। जो कर्म शरीर आदिक बन्धन है उनसे छुटकारा हो गया इसका नाम हैमोक्ष। निर्वाण नाम है शान्ति होने का, निष्तरंग हो जाने का। जो ऊधम उठ रहा था, जो विकल्पजाल बन रहे थे वे सब शान्त हो गए उसका नाम है निर्वाण। तो ये सब बातें मनशुद्धि पर निर्भर हैं। हम आपको इन्हीं सब उपायों को करके मन शुद्ध कर लेना चाहिए। निर्विषय, निर्विरोध मन बनने का नाम है मन की शुद्धि।

श्लोक-1096

अपि लोकत्रयैश्वर्यं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम्।

भजत्यचिन्त्यवीर्योऽयं चित्तदैत्यो निरङ्कुशः॥1096॥

चित्त दैत्य का पराक्रम—यह चित्तरूपी दैत्य जिसका पराक्रम भी अचिन्त्य है उस मन को कोई गिरफ्तार भी कर सकता है क्या? कोई बंधन बाँध सकता है क्या? जेलखाना में डाल सकता है क्या? इस शरीर को तो बाँध ले, जेल में डाल दे पर मन किसी के बंधे नहीं बंधता। कभी ऐसा भी लगे कि हम तो न बंधते थे, पर दूसरे ने हमसे प्रीति करके बाँध ही दिया तो यह बात सत्य नहीं है। वह तो स्वयं अपने में स्नेह जगाकर बन्धन में बंधता है। किसी दूसरे में यह सामर्थ्य नहीं है कि किसी के मन को बाँध ले। ऐसा यह अचिन्त्यशक्ति वाला है। सो यह निरंकुश होकर तीन लोक के ऐश्वर्य का बिगाड़ कर रहा है, लेकिन जब कोई समर्थ योगी इस चेत दैत्य को निरंकुश कर डाले, इसको निर्मूल वश में कर ले तो वह लोक के ऐश्वर्य को भोग लेता है। लोग भी कहते हैं— मन के हारे हार है मन के जीते जीत।

श्लोक-1097

शमश्रुतयमोपता जिताक्षाः शंसितव्रताः।

विदन्त्यनिर्जितस्वान्ताः स्वस्वरूपं न योगिनः॥1097॥

शमश्रुतव्रतोपेत जितेन्द्रिय योगियों द्वारा ही स्वस्वरूप का वेदन— जो योगी शमभाव शास्त्राध्ययन और यम नियम आदिक से युक्त है और जितेन्द्रिय है, जिनका व्रत प्रशंसा के योग्य है वह यदि मन को न जीते हुए हो तो अपने स्वरूप को नहीं जान सकता। स्वरूप के विज्ञान में आइ तो विषय उपयोग के हैं। साक्षात् आवरणनिमित्त की बात नहीं कह रहे। निमित्त कर्मोदय चलता है पर इस उपादान में ही इसके ही घर में आत्मविज्ञान की ओट करने वाले कौन हैं? ये विकार भाव। तो जिसका मन शुद्ध नहीं हुआ है वह पुरुष बड़े-बड़े यम नियम शीलव्रत तपश्चरण आदिक भी करे तो भी आत्मानुभव नहीं कर सकता। अब सोच लीजिये कि सरलता की कितनी कीमत है? लोग किसी को धोखे में डालकर अपने को चतुर समझते हैं—हमने देखो आज अमुक को कैसा धोखे में डाल दिया और खासकर जो रेलगाड़ी में जो बिना टिकट चलने वाले लोग हैं वे टिकटचेकर से लुक छिपकर बच आते हैं, बाद में वे बड़ा अहंकार करते हैं और यह भी कहते हैं कि देखो हमने कैसा टिकटचेकर को आज धोखा दिया है, पर भाई धोखा कोई किसी को नहीं देता है, जो सरलता के विरुद्ध भाव रखता है वह ही धोखा खाता है। स्वयं को उसने खोटे कर्मों से लिप्त कर लिया। प्रथम तो यह विश्वास होना चाहिये कि हम जो कर्तव्य करते हैं उन कर्तव्यों का फल भोगना पड़ेगा। कदाचित् इन कर्तव्यों में जितना श्रम किया है उससे कोई-कोई श्रम, कोई-कोई प्रताप यदि कुछ निर्मलता का बन जाय तो भले ही वह भोगने में न आये, अन्यरूप बन जाय, पर उसमें यों ही निर्णय रखिये कि किए हुए कर्म भोगने ही पड़ते

हैं। यदि तुरन्त भोग लिये जाते तो जगत में धर्म की व्यवस्था अच्छी बनती, पर पाप आज करते हैं, उसका हजारों वर्ष बाद फल मिल पाता है तो पहिले किये हुये पुण्य के उदय में आजकिए हुए खोटे भावों का फल जो नहीं मिल पाता, इससे लोक में धर्मवृत्ति की अव्यवस्था बनी हुई है। किए का फल तुरन्त मिलता तो धर्म की व्यवस्था बहुत अच्छी बनती। और एक बात बिगड़ी सी रही कि जो ज्ञानी हैं, धर्मात्मा है उनको तो कुछ गलती होने पर तुरन्त सा फल मिल जाता है और जो अज्ञानी हैं, मोही हैं, पापी हैं उनको पाप का फल बहुत देर में मिल पाता है। इससे भी बड़ी अव्यवस्था बनती है, मगर इसमें एक तंत है। ज्ञानी पुरुष सम्यग्दृष्टि जन चरित्रवान पुरुष यदि कोई पाप कर्म करें तो उनके कर्मों की स्थिति कम बनती है और उसका फल जल्दी मिलता है, और जो मोही हैं, पापी हैं उनको फल देर में मिलता है, मगर कर्मों की स्थिति बहुत अधिक बंधती है। तो मोही पापियों को कर्मोदय की स्थिति बहुत देर में उदय में आती है और चरित्रवान पुरुषों के कर्मोदय की स्थिति जल्दी उदय में आती है, इस कारण भी धर्म को एक अच्छी व्यवस्था नहीं बन पाती। तथ्य यह है कि जो जैसे भाव करता है उसको उस प्रकार का फल भोगना पड़ेगा। अपने को सावधान बनाना चाहिये ना, जरा से लोभ में जरा सी रति में हम अन्याय करें, अपने मन को अपवित्र बनायें तो उसका फल भी तो भोगना पड़ेगा। क्यों ऐसा अवसर दें कि हम आगामी काल में क्लेश में पड़ जायें?

श्लोक-1098

विलीनविषयं शान्तं निःसङ्गं त्यक्तविक्रियम्।

स्वस्थं कृत्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम्॥1098॥

स्वस्थ मन करके ही योगियों की अव्यय पद के लाभ की संभवता— मुनिजनों ने अपने मन को ऐसा स्वच्छ बना लिया जिससे अविनाशी पद की प्राप्ति उन्होंने की। कैसा मन बनाया कि जहाँ विषय विलीन हो गये हैं देखिये कोई भी पदार्थ हो उसमें प्रतिसमय नवीन-नवीन पर्याय बनती है। तब पुरानी पर्याय का क्या होता है? उससे निकल जाती है क्या? उसे किसी ने देखा है क्या निकलते हुये? क्या होता है उस पुरानी पर्याय का? पुरानी पर्याय न तो उस पदार्थ में बनी रहती और न निकलकर बाहर जाती। जैसे कोई पुरुष कभी क्रोध कर रहा था। अब उसके शान्ति जग गयी तो शान्ति की पर्याय बनने पर यह तो बताओ कि क्रोध का अब क्या हुआ? जो क्रोध पहिले इतना उमड़ रहा था उसका क्या हुआ? क्या उस आत्मा में कुछ भी दबाव पड़ा है अथवा वह क्रोध उस आत्मा से निकलकर बाहर आ गया क्या? न उस पदार्थ में है, न वह बाहर निकला है और न उसका सत्त्व। इसी को कहते हैं विलीन। समुद्र में जैसे बहुत सी तरंगें उठ रही थी,

अब हवा न रहने से निष्तरंग हो गया समुद्र। यह तो बताओ कि समुद्र की वे तरंगें कहाँगयी? समुद्र में पड़ी हुई है या समुद्र से निकलकर कहीं पहुँची हैं? समुद्र की एक अवस्था थी, उसके विपक्षभूत दूसरी अवस्था आ गई तो इसी को कहते हैं विलीन होना। तो जहाँविषय विलीन हो गए, पहिले विषयरूप परिणम रहा, यह मन निर्विषय हो गया, शान्त हो गया तो वहाँ विषय विलीन हो गया। वह मन अब शान्त हो गया वह मन अब निःसंग हो गया। उसके साथ अब न कोई मिथ्याभूत पर है और न भाव भूत पर है, न विकार है, न उपाधि है। जिसने अपनी विक्रिया छोड़ दी, निर्विकार बन गया ऐसे स्वच्छ मन को करके मुनीश्वरों ने नाशी परमपद को प्राप्त किया। तो जो उत्कृष्ट पद है, परम निराकुलता का स्थान है उसकी प्राप्ति का उपाय मूल में मन को शुद्ध बना लेना है, और मन की शुद्धस्थिति वह है जहाँ सब जीवों के प्रति सुखी होने की भावना या सबमें समानरूप से रहने की भावना बन जाय, सबसे विलक्षण यों कहो कि अहंकार में वासित अपने आपको यह न माने और सर्व के समान अपने को समझ ले तो समझो कि यह मन की शुद्धि प्रकट हुई है।

श्लोक-1099

दिक्चक्रं दैत्याधिष्ठयं त्रिदशपतिपुराण्यम्बुवाहान्तरालं।
 द्वीपाम्भोधिप्रकाण्डं खचरनरसुराहीन्द्रवासं समग्रम्॥
 एतत्त्रैलोक्यनीडं वचनचयचितं चापलेन क्षणार्द्धे—
 नाश्रान्तं चित्तदैत्यो भ्रमति तनुमतां दुर्विचिन्त्यप्रभावः॥1099॥

चित्तदैत्यप्रभाव की दुर्विचिन्त्यता— कहते हैं कि इस चैत्यरूपी दैत्य का बड़ा दुर्निवार प्रभाव है, यह समस्त दिशाओं में फैल जाता है। मन की गति उतनी तीव्र होती है जितनी तीव्र और किसी की नहीं बतायी जा सकती है। शब्दों को भी देर लगती है कहीं से कहीं पहुँचने में। वायु को भी समय लगता है, तार बेतार वगैरह को भी समय लगता है। किन्तु इस मन के लिए कोई समय नहीं लगता। विचार करें और अलोकाकाश में पहुँच जावें। लोक की बात तो दूर है। विचार ही की तो बात है। तो समस्त दिशाओं में इस दैत्य का गमन है। स्वर्गों में, मेघों में, द्वीपों में, समुद्रों में सर्वत्र यह मनरूपी दैत्य क्षण भर में पहुँच जाता है। दोनों लोक में सर्वस्थानों में चाहे वह वातवलय का स्थान हो, क्षण भर में यह दैत्य घूम आता है, इसका दुर्निवार प्रभाव है। कभी-कभी अपने देह में ऐसा लगता है कि कोई दो शक्तियाँपरस्पर में एक दूसरे को जवाब दिया करती है। मन विषयों में प्रवृत्ति का प्रस्ताव रखता है तो ज्ञान विवेक उससे रोकने का यत्न रखता है और इस स्थिति में मन अपनी बात रखता है, ज्ञान अपनी बात रखता है। जिसका मन प्रबल हो उसका मन

जीत जाता है, ज्ञान हार जाता है और जिसका ज्ञान प्रबल हो तो मन हार जाता है और ज्ञान जीत जाता है। ऐसी कुछ दो चीजें हैं नहीं आत्मा में कि मन अलग हो, ज्ञान अलग हो। एक ही चीज है, ज्ञान मन भाव विचार। उन विचारों में उथल पुथल मचती रहती है। जब कोई मझोली पर्याय होती है जीव तो दुर्विचार और सद्विचार एक के बाद एक परिणमन करते हैं और अन्त में यदि विचार खोटा है तो दुर्निवार हामी हो जाता है और यदि उसका मूल में तथ्य है, प्रतिबोध है तो ये सद्विचार अपना अधिकार जमा लेते हैं। इन मनदैत्य को वश कर लेना आवश्यक है और देखिये मन के बहाव में यह जीव क्षणमात्र में बह जाता है, परन्तु उसका फल चिरकाल में भोगना पड़ता है। तो मन का दुर्विचिन्त्य प्रभाव है, फिर भी जो धर्मीजन हैं वे मन को हटाने का ही यत्न किया करते हैं। चींटी कभी भीत पर चढ़ती है तो वह कई बार गिरती भी है, पर यत्न करते-करते अन्त में चढ ही जाती है, ऐसे ही यह मन इस संसारी प्राणी को हैरान कर रहा है, फिर भी यह विवेकी पुरुष हिम्मत नहीं हारता। कितने ही बार यह गिरता है, फिर भी यह जानता है कि आखिर हमारा ज्ञान ही शरण है। ज्ञान से ही हमारा उद्धार होगा तो मन से हार हारकर भी विवेक को ही आगे रखता है और विवेक से अपने आपको बनाने का ही यत्न किया करता है। यह ध्यान के प्रकरण में चित्तशुद्धि की बात इसलिये बहुत जोर देकर कही जा रही है कि चित्तशुद्धि के बिना मनुष्य आत्मध्यान का पात्र नहीं हो सकता। और आत्मध्यान के बिना शान्ति अथवा मुक्ति का मार्ग नहीं मिलता। इस कारण चित्त में उद्वण्डतायें बताकर चित्त से विमुख होने के लिये प्रेरणा दी गई है।

श्लोक-1100

प्रशमयमसमाधध्यानविज्ञानहेतो, विनयनयविवेकोदारचारित्रशुद्धयै।

य इह जयति चेतः पन्नगदुर्निवारं, स खलु जगति योगि ज्ञातवन्द्यो मुनीन्द्रः॥1100॥

चित्तमणी मुनीन्द्र की वन्दनीयता— इस चित्तरूपी सर्प को जो योगीश्वर जीत लेते हैं वे बड़े-बड़े योगियों द्वारा भी वन्दनीय है। इस चित्तपन्नक को किस लिये जीता जाता है कि जो नियम लिया है आजीवन उस यम की सिद्धि के लिये जो प्रशम की भावना बनाया है, मैं कषायों को उपशान्त करके प्रशमभाव में रहूँगा, क्षमा आदिक रूप रहूँगा, ऐसी जो भावना बनाया है उस भावना की सिद्धि के लिये इस चित्तपन्नक को जीता जाता है। जो समाधि समता में कल्पनायें की हैं, भावना भाई है कि मैं रागद्वेष से दूर रहकर एक साम्यभाव रूप बर्तूँगा, उस समय की सिद्धि के लिये चित्तरूपी सर्प को जीतना ही चाहिए। इस प्रकार ध्यान विज्ञान की सिद्धि के लिए इस चित्तपन्नक को योगीजन जीता करते हैं, यह एक बहुत बड़ा आन्तरिक

तपश्चरण है। देखिये ये इन्द्रियाँ जगत के प्राणियों को विषयों में प्रवर्तन कराकर जीव को परेशानी में और बरबादी में डालती हैं और इस मन को विकट प्रोत्साहन देती हैं। और इन सभी इन्द्रियों द्वारा बिगाड़ होता है और सभी इन्द्रियों के विषय कठिन हैं, लेकिन रसना इन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय इन दो के विषय बड़े प्रबल हैं, और अन्य इन्द्रियों के भी विषयों की प्रबलता में ये दोनों इन्द्रियाँ सहकारी बनती हैं। बोलचाल करना, आँखों से निरखना ये अन्य इन्द्रियों के भी प्रबलता के कारण बनते हैं। और कितनी सुविधा मिली है हम आपको कि और इन्द्रियों पर तो ढक्कन नहीं मिले, आँख और मुख पर ढक्कन मिले हैं। अगर कोई चीज नहीं खाना है अथवा कुछ नहीं बोलना है तो लो झट मुख बन्द कर लिया, पर इस मन के विषय को रोकने के लिए क्या ढक्कन है सो बतावो? कुछ भी तो ढक्कन नहीं है। कान को भी कोई ढक्कन नहीं मिले है, स्पर्शन इन्द्रिय का भी कोई ढक्कन नहीं है, नाक का भी कोई ढक्कन नहीं है, पर आँखों के लिए एक कितनी अच्छी सुविधा मिली है। कहते भी हैं कि मूदहु आँखि कितहु कछ नाहीं। आँखें बन्द कर ली, लो कहीं कुछ नहीं है। और देखो— मुख से दो काम किए जाते हैं— एक तो वचन बोलने का काम और एक स्वाद लेने का काम। ये दोनों ही काम बन्द किए जा सकते हैं। ओंठ में ओंठ चिपका लिया तो ये दोनों ही काम बन्द हो गए। इन दोनों इन्द्रियों के ढक्कन बन्द हो जायें फिर शेष इन्द्रियों में प्रबलता रह ही नहीं सकती है। अब रही मन की बात। इसमें भी कोई ढक्कन नहीं है। यहाँ भी कौनसा उपाय किया जा सकता है? कानों के लिए भी कोई ढक्कन नहीं है। हाथ से कानों को बन्द कर लिया, हाथ से नाक को भी बन्द कर लिया, पर इस मन को किस तरह से मूँदे? न वहाँ हाथ जाये, न वहाँ किसी वस्तु का प्रवेश हो। यह भीतर ही भीतर मन-स्वच्छन्द होकर लोक में यत्र तत्र घूमता रहता है। मन का ढक्कन क्या है, इसको रोकने की प्रक्रिया क्या है। तो देखिये यह विचार भी अरूपी है और वह है तत्त्वज्ञान। विवेक ऐसा लगता है संसार के अनेक प्राणियों को देखकर कि तत्त्वज्ञान और कल्याण की बात तो शास्त्रों की ही है, मात्र एक चर्चा करने भर की है, पर रोकना और मार्ग पर चलना यह तो सम्भव सा नहीं लगता। लेकिन ऐसा तो वे ही लोग सोचते हैं, जिनको सचमुच उस समय सम्भव सा नहीं है। जब हम यहाँ अनेक पुरुषों को देखते हैं— किसी में मोह अधिक है किसी में कम है, किसी में और कम है तो इस न्यूनता को निरखकर हम यह तो ज्ञान कर ही लेते हैं कि मोह में ऐसी कमियाँ दिख जाती हैं, तो जिसके मोह कम हो अथवा मोह न हो उसके तत्त्वज्ञान बनेगा ही। संयम आन्तरिक तपश्चरण सब साधन उसके बन जायेंगे।

अज्ञानियों की चित्तविजय में कायरता— अपने आपको अज्ञानी जन ऐसा अनुभव करते हैं कि हम तो वह ही हैं जो संसार में रूलने वाले ये सब प्राणी हैं और अज्ञानीजन अपने आपको ऐसा अनुभव करते हैं कि इन रूलने वाले प्राणियों से विलक्षण एक प्रभुपरमेष्ठी की बिरादरी में हम एक छोटे भक्त हैं। एक बार कभी बड़ा भयंकर शुद्ध हो रहा था। मानो महाभारत का समय था। उस समय लोग प्रसन्नता से उस युद्ध प्रसंग में शामिल हो

रहे थे। एक पुरुष अपनी स्त्री से बड़ी डींग मारता था कि हम बड़े बहादुर हैं। लोग प्रायः अपनी स्त्री के सामने बड़ी डींग मारा करते हैं क्योंकि वहीं उनका वश चलता है, अपनी बड़ी-बड़ी कलायें और अतिशय की बातें बताने का। तो स्त्री बोली कि यदि आज कल यह महाभारत का युद्ध हो रहा है, लोग खुशी-खुशी शामिल हो रहे हैं, यह देशसेवा है आप भी देशसेवा के लिए जाइये। तो वह बोला कि मैं चला तो जाऊँ पर वहाँ तो सब मरने की बातें हैं। वहाँ तो जिन्दा तो नहीं आसकते। तो स्त्री ने उस पुरुष को समझाने के एक काम किया कि चना दलने की जो चक्की होती है उस पर चने दलने लगी और उस पति से कहा कि देखो इस चक्की में जो चने दले गए हैं इसमें से यह एक चना, यह दूसरा चना साबुत भी तो निकल आये हैं। तो ऐसे ही युद्ध में जितने लोग लड़ते हैं उनमें सभी नहीं मरते, कुछ बचकर भी आते हैं। तो वह पुरुष बोला कि देखो इन चनों में शामिल हैं जो चने चूरा हो गए हैं, हम उनमें से नहीं हैं जो चने साबुत निकल आये हैं। तो ऐसे ही अज्ञानीजन मानते हैं कि हम इन रुलते हुए प्राणियों में के हैं और ज्ञानीजन मानते हैं कि हम तो जो मोक्षमार्गी ज्ञानी अन्तरात्मा पुरुष हैं उनमें के हैं। जो अपने को जिनमें का मानेगा उन जैसी ही प्रवृत्ति बनेगी। तभी ये संसार प्राणी मोहियों की भाँति ही रुलते चले जाते हैं और ज्ञानीजन प्रभु की ओर ही दृष्टि अधिकाधिक लगाया करते हैं। ये सब बातें तत्त्वज्ञान से सम्भव हैं। उस तत्त्वज्ञान द्वारा हम इस चित्तदैत्य को वश में करें। इस प्रकार इस परिच्छेद में मनशुद्धि की बात कही गई है, उससे हमें यह शिक्षा लेनी है कि हम अपने विवेक बल से इस मन पर विजय प्राप्त करें।

श्लोक-1101,1102

निःशेषविषयोत्तीर्णं विकल्पब्रजवर्जितम्।
स्वतत्त्वैकपरं धत्ते मनीषी नियतं मनः॥1101॥

क्रियमाणमपि स्वस्थं मनः सदयोऽभिभूयते।
अनाद्युत्पन्नसम्बद्धै रागादिरिपुभिर्वलात्॥1102॥

तत्त्वज्ञ जनों का मनोनियन्त्रण— बुद्धिमान पुरुष यदि अपने को समस्त विषयों से उत्तीर्ण और विकल्पसमूहों से रहित तथा अपने अंतस्तत्त्व के ध्यान में ही लवलीन मन को बनाते हैं और आत्मस्वरूप के सम्मुख किया हुआ मन भी अनादि से उत्पन्न हुए या बंधे हुए रागादिक शत्रुओं को जबरदस्ती पीड़ित किए जाता है अर्थात् बहुत-बहुत इस मन को वश में करने का उद्यम करने पर भी ये रागादिक शत्रु फिर भी इस जीव को सताने

का यत्न करते हैं। समाधि सतक में बताया है कि अनादि काल की अविद्या की वासना का ऐसा प्रभाव है कि तपश्चरण से जिन्होंने अपने आपको कुछ शुद्ध भी बनाया है, फिर भी वह वासना कुछ बार अपना राग दिखाती है। इस जगत को जीतना अर्थात् इन्द्रियों का विजय करना, अपने ज्ञायकस्वरूप में विलीन करना यह एक बहुत ऊँचा पुरुषार्थ है। बहुत यम नियम संयम से रहने पर भी रागादिक विकार इसे परेशान करते हैं, अतएव रागादिक विकार कैसे जीते जायें, उन विकारों के जीतने का उपाय इस परिच्छेद में कहा जायेगा। जगत में दुःख केवल रागभाव का है और कुछ क्लेश ही नहीं है। मनुष्यों के चित्त में कोई न कोई झंझट खड़ी हुई है, समस्या है, आपत्ति है, उल्लङ्घन है, वह सब उल्लङ्घन लोकव्यवहार में उचित सी मानी जा रही है कि ठीक ही तो है। जब घर में रह रहे हैं तो घर की व्यवस्था अच्छी बनाना कर्तव्य ही तो है। कुछ भला कर्तव्य सा जँच रहा हो लेकिन वहाँ है क्या? सब क्लेश एक रागभाव का है। न छोड़ते बने उस पदवी में यह दूसरी बात है पर रागभाव तो अपना असर दिखायेगा ही। जैसे हिंसा 4 प्रकार की बताया है— संकल्पी, उद्यमी, प्रारम्भी और विरोधी। उनमें से यद्यपि गृहस्थ तीन हिंसावों का त्यागी नहीं बन पाता, केवल संकल्पी हिंसा का त्यागी रहता है तो उसके मायने यह तो न हो जायेंगे कि गृहस्थ उन तीन हिंसावों का करे तो उसका पाप न लगता होगा। जो जिस रूप परिणाम है वह परिणाम अपना प्रभाव बनाता है। इतनी बात है कि यह गृहस्थ उन तीन हिंसावों का त्यागी नहीं बन पाया। उन तीन का त्यागी बनने के बाद फिर उन हिंसावों को करता तो यह अधिक पाप माना जाता। इसमें प्रतिज्ञाभंग का दोष लगता और नियम के भंग हो जाने पर फिर वह स्वच्छन्द बन जाता है। पर गृहस्थ भी जैसे परिणाम को करेगा उससे जो बंध हो सकता है वह होगा ही। इसी प्रकार किसी पदवी में कम राग परेशान करता है, कहीं बहुत ही कम राग परेशान करता है, परविकार का जो कुछ भी प्रभाव है वह सब पर होता है।

मोह में आत्महितकारी भावों की कठिनता— भैया !यों सोच लीजिए कि जिस पुरुष में जो वासना पड़ी है, जो आदत बनी है, कुछ भी भेष धर लेने पर उस आदत को कहाँ टाल दिया जायेगा? यद्यपि तत्त्वज्ञान और वैराग्य का निरन्तर अभ्यास करते रहने से आदत भी पलट ही जाती है, पर प्रायः करके जो प्रकृति बन जाती है मनुष्य की जन्मतः उस प्रकृति का कुछ न कुछ अंश अन्त तक चलता रहता है। तो ये रागादिक भाव साधुवों के भी उत्पन्न हों तो उनका भी वैसा ही कर्मबन्ध होता जैसा अन्य पुरुषों में हो सकता है। जिस जाति का राग है, जिस अनुभाग का राग है उसके अनुकूल वहाँ भी कर्मबन्ध होता है। जीव को केवल एक राग का क्लेश है। राग न हो, किसी बाह्यपदार्थ की धुन न हो, किसी बाह्य जीव से अपना स्नेह न लगाया हो तो उसे फिर क्या क्लेश है? क्लेश है तो वह रागभाव का है। सभी के क्लेशों की कहानी सुन लो, अन्त में आप यही पायेंगे कि इसे किसी परपदार्थ में राग है जिसके कारण इसे क्लेश हैं, कोई बूढ़ा अपने पौत्रों के द्वारा सताया जाता है, पौत्र लोग मारते भी हैं उस बूढ़े की मूँछ पटाते हैं, उससे वह बूढ़ा परेशान होता जाता है। उसी

समय निकला कोई साधु। पूछा कि क्यों तुम दुःखी हो रहे हो? उस बूढ़े ने बताया कि हमें ये पौत्र बहुत परेशान कर रहे हैं। तो उस साधु ने कहा कि हम कहो तुम्हारी इस परेशानी को दूर कर दें। तो वह बूढ़ा कहता है हाँ महाराज अगर हमारा यह दुःख दूर कर दो तो यह आपकी हम पर बड़ी कृपा होगी। बूढ़ा सोचता था कि यह साधु महाराज कोई ऐसा मंत्र पढ़ देंगे कि ये सारे पौत्र हमारे आगे सिर नवाये खड़े रहा करेंगे। पर साधु ने कहा कि तुम अपना घर छोड़कर हमारे साथ चलो तो तुम्हारे ये सारे दुःख दूर हो जायेंगे। तो वह बूढ़ा झुंझलाकर कह उठता है कि महाराज ये बच्चे चाहे मुझे मारें चाहे जो करें। फिर भी हम इनके बब्बा तो मिट जायेंगे और हमारे पोते तो न मिट जायेंगे। आप कौन बीच में दलाली करने आ गए? तो जिनसे क्लेश मिलता है उनमें ही रमते जाते हैं, दुःखी होते जाते हैं, मोह में ऐसी ही स्थिति होती है। मोह से ही तो क्लेश उत्पन्न होता है और क्लेश को मिटाने का उपाय भी यह मोह ही करता है। किसी वस्तु के राग से कोई वेदना उत्पन्न हो, क्लेश उत्पन्न हो तो यह उस क्लेश को मिटाने के लिए फिर राग की ही बात सोचता है और यह यत्न करता है। जैसे खून का दाग कोई कपड़े में लगा हो और उसे कोई खून से ही धोवें तो क्या वह खून का दाग छूट जायेगा? नहीं छूट सकता। इसी प्रकार जिस बात से क्लेश मिलता है उस ही बात से क्लेश मिटाना चाहें तो वह क्लेश नहीं मिट सकता है। सुख शान्ति के मार्ग में लगाना है तो रागादिक विकारों को हटाना होगा। राग का प्रवर्तन करना, काम करना हे तो आसान काम पर राग का परिहार करना मुश्किल काम है और एक अपने स्वभाव की ओरसे देखो तो राग से अलग बना रहना यह तो है आसान काम और किसी बाह्य पदार्थ में राग बनाना यह है बड़ा कठिन काम। उसके लिए कितनी ही अपेक्षा चाहिए, उस प्रकार का उदय हो, उस प्रकार के साधन हों तो राग किया जा सकता है, और रागरहित केवल ज्ञानमात्र केवल अपने आपको प्रवर्ताने में किसी को अपेक्षा नहीं करनी होती। लेकिन जब मोह ज्वर लगा है उसका बड़ा संताप चल रहा है तो इसे राग की बात तो आसान मालूम होती है और रागरहित ज्ञानमात्र का अनुभव करने की बात अधिक मालूम होती है।

राग को निर्मूल कर देने पर ही शान्ति का लाभ— भैया ! निःसन्देह यह निर्णय कर लीजिए— यों समझिये जैसे वज्र पर लिखा हुआ वाक्य हो। यदि परम शान्ति चाहिए तो राग को समूल नष्ट करना होगा, दूसरा और कोई उपाय नहीं है अपने आपको उत्कृष्ट शान्ति में ले जाने का। अब जितनी देर करें उतना ही संसार में रुलेंगे। जो कार्य करने का है वह कार्य यदि शीघ्र कर लिया तो शीघ्र नफा पायेंगे और देर में किया जाय तो देर में नफा पायेंगे, उतने समय तक और रुलना पड़ेगा। तो निर्णय एक ही रखिये— सारे राग हमारी बरबादी के साधन हैं, कोई भी राग मेरा हितस्वरूप नहीं है। केवल उन रागों में ऐसा तार्तम्य हो जाता है कि जिससे यह राग भला है यों कहने लगते हैं। जैसे कि बुखार 104 डिग्री हो और थोड़ी देर बाद 101 डिग्री रह जाय तो वह रोगी कहता है कि अब तो हमारी स्थिति अच्छी है, पर स्थिति कहाँ अच्छी है बुखार तो अब

भी है लेकिन कम बुखार होने से वह आकुलता नहीं रही, अतएव वह अपने को शान्त और सुखी सा अनुभव करता है। यह बात इस रोगी की है। कोई इन्द्रिय विषय सम्बन्धी राग होता है तो उसमें बड़ी आकुलता रहती है और सधर्मीजनों की संगति में रहना, गुरुजनों के वचन सुनना यह भी राग है, लेकिन यह राग ऐसा है जैसा कि 104 डिग्री बुखार के आगे 100 डिग्री रह जाय तो इस शुभ राग से यह मानते हैं कि कुछ हमारी स्थिति अच्छी है, लेकिन बुद्धिमान रोगी को 100 डिग्री बुखार में सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए। उसे भी दूर करे। इस ही प्रकार किसी भी विवेकी बुद्धिमान पुरुष को इन शुभ रागों में सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए। जैसे कोड़ साधु अनशन काम-क्लेश, सर्दी-गर्मी आदिक के क्लेश सहता है। तो तपश्चरण करता है निष्कपट करता है, अपने शुद्ध विचार से करता है। उसे यश की वाञ्छा नहीं है। उन तपश्चरणों को करके वह किसी भोग की भी वाञ्छा नहीं रख रहा है लेकिन भेदविज्ञान नहीं है, तत्त्वज्ञान नहीं है, अपने सहजस्वरूप पर लक्ष्य नहीं पहुँचता, एक धर्ममनाय में जैसा कुछ चला आ रहा है उस तरह की वृत्ति करके अपने आपको एक कल्याणमय मानता है अर्थात् उन तपश्चरणों में सन्तुष्ट हो जाता है। ऐसा सन्तुष्ट हो जाना उसकी उन्नति में बाधा देने वाली बात है। शुभ राग में सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए। राग किसी का भी हो तो उसे धुनिया की तरह मोड़ मोड़कर समूल नष्ट कर देना चाहिए। जैसे धुनिया रुई धुनता है तो वह सब तोले-तोलेभर रुई को ऐसा क्रम से धीरे-धीरे धुनता है कि सब धुन जाय, ऐसे ही इस राग को ढूँढ़-ढूँढ़कर, निहार-निहारकर तत्त्वज्ञानी पुरुष, बुद्धिमान पुरुष नष्ट कर डालता है। जब राग से रहित हो जाय, वीतराग पद प्राप्त हो तब उसके कल्याण की स्थिति समझियेगा।

शान्तिधाम के दर्शन करने पर वैराग्य की सहजता—ये रागादिक दूर करने ही होंगे तब शान्ति का पद मिलेगा। ऐसा विचारने वाले पुरुष के वर्तमान में राग होता है तो वह भी ऐसा होता है, ऐसा निकल जाता है ऊपर ही ऊपर से जैसे कि बहुत बड़े पानी के ढेर पर मिट्टी का तेल आ जाय तो वह तेल ऊपर ही ऊपर लोटता रहता है और निकल जाता है, भीतर प्रवेश नहीं करता, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष में रागभाव आता है तो उन पर ऊपर ही ऊपर लोटता हुआ निकल जाता है ऐसा ही अन्तर में इस सम्यग्दृष्टि का बल है। नारकी सम्यग्दृष्टि हो वह मारकाट में खुद भी लगता, दूसरों के द्वारा भी मारा कूटा जाता है इतने पर भी इतनी घोर विपत्ति पड़ने पर भी वह नारकी जीव तत्त्वज्ञानी आत्मा उससे अपने आत्मा के स्वरूप को न्यारा अनुभव करता है, जिस परिस्थितियों से यह कहा गया है कि वह सम्यग्दृष्टि नारकी भी अन्तरङ्ग में सुखरस से गटागट भरा हुआ है। तिर्यञ्चों में भी पशु-पक्षी संज्ञी जीव अथवा मगरमच्छ आदिक जलचर जीव जो सम्यग्दृष्टि हों वे तिर्यञ्च गति सम्बन्धी नाना मौज प्राप्त कर रहे हैं। इतने पर भी वे विपदावों को अपने से न्यारा समझते हैं और मौजों से भी अपने को जुदा समझते हैं। इस कारण सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च गति के जीव भी अन्तः निराकुल रहा करते हैं। ये सब उदयकृत बातें हैं। कोई किसी के आधीन बस जायें पशु और मालिक जैसा चाहे तैसा

उन्हें चलाये, पीटे रखे किन्तु वह यदि तत्त्वज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि जीव है तो ऐसे क्लेशों में रहकर भी वह अन्तरंग में निराकुल है। मनुष्यगति में भी अनेक तरह की घटनाएँ होती हैं। मौज को वे लोग विपदा मानते हैं जिन्होंने इस जगत के सब मायाजालों से भिन्न अपने आपके स्वरूप का निर्णय किया है। और चूँकि मनुष्यगति में संयम धारण किया जा सकता है तो यह मनुष्य सम्यग्दृष्टि जीव उस संयम की ही प्रतीक्षा किया करता है। देखिये जो समागम हैं ये सब विघट जायेंगे, ये सब छूट जायेंगे। अब इन सब समागमों की आशा बना बनाकर आयु के अन्त में बुरी मौत मरे, इस तरह ये समागम छूटे। अपने जीवन में भेदविज्ञान की भावना बनाकर जो कुछ ये समागम में आये वे सब अहितरूप हैं, इनसे मेरा कल्याण नहीं है। ऐसे जीवन में भी विविक्त रहकर अपने स्वभाव में समाधिभाव रखकर मरे। छूटता है, मगर अपनी ओरसे इन्हें छोड़ दे तो इससे मेरी कुशलता है और मरण आने पर तो छूट ही जायेगा पर ऐसे छोड़ने में कोई वीरता नहीं है। बड़े-बड़े पुरुष भी बस इस नियम के आगे अपने घुटने टेक देते हैं। बड़े-बड़े पहलवान हुए, जिन्हें अपने बल का बड़ा मद था, पर सबके घुटने इस नियम के आगे टिक गए। यहाँ पर एक से एक चतुर व्यक्तियों ने इस सम्पदा को रोकना चाहा पर रुकी नहीं, वे सब भी इस नियम के आगे झुककर चले गए। यह ही नियम, यह ही वियोग इस आत्मा की भलाई का कारण बन जाता है।

लौकिक सुखों में उन्नति का अनवकाश— देखिये जिन भवों में मौज बहुत रहता है, दुःख आता ही नहीं, उन भवों की स्थिति देख लो क्या अच्छी है और इस मनुष्यभव में संयोग वियोग होना, धनी निर्धन होना, शरीर में रोग होना आदिक अनेक प्रकार के क्लेश चलते हैं तो ऐसे क्लेश वाले मनुष्यभव में देख लीजिए कि कितना कल्याण किया जा सकता है? देवगति के जीव जो देव जन्म से लेकर अन्त तक बड़ी मौज में रहते हैं, अपने नाना शरीर बना लें, जैसा चाहे रूप बना लें, भूख प्यास की भी वेदना नहीं होती, बहुत-बहुत मौज में हैं, सुखियापन में हैं लेकिन वे देव अन्त में मरते ही तो हैं। लोग कहते हैं कि इस मनुष्य का आखिरी कल्याण बैकुण्ठ है, वह बैकुण्ठ है क्या? नवग्रैवेयक अधिक से अधिक और वे बैकुण्ठ से वापिस होना मानते हैं। चिरकाल तक रहता है अन्त में उसका भी अन्त होता है और फिर नीचे इसे जन्म लेना पड़ता है, इसका बैकुण्ठ है। यों समझिये कि लोक का नक्शा पुरुषाकार है। और उस नक्शे में जो कंठ की जगह है वह है ग्रैवेयक। ग्रैवेयक का भी वही अर्थ है जो बैकुण्ठ का है। ग्रीवा मायने भी कंठ का है, ग्रीवा से ग्रैवेयक बना। तो बैकुण्ठ तक भी हो आया, और चिरकाल तक इसने बहुत मौज भी माना। जहाँशुक्ल लेश्या है, जहाँकोई विपत्ति नहीं है, रागद्वेषादिक जहाँ अत्यन्त मंद हैं, ऐसी स्थिति के पाने के बाद भी देव को मरने के बाद फिर देवगति नहीं मिलती? उन्हें यहाँ अशुद्ध शरीर में ही जन्म लेना पड़ता है। लेकिन ऐसी ऊँची जगह तक पहुँचते हुए और स्वर्गों के जीव या मनुष्य या तिर्यच की पर्याय में जन्म लेना पड़ता है। देव में मरने के बाद फिर देवगति नहीं मिलती। जिनके भव में मौज की प्रचुरता है उनकी परिस्थिति बतायी जा रही

है, वे निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकते। मनुष्यों में भोगभूमि के मनुष्य बड़े मौज में रहते हैं। वहाँ वियोग का क्लेश नहीं, आजीविका का क्लेश नहीं लेकिन वे मनुष्य भी मर करके अथवा अन्त में कोई उच्च गति को नहीं प्राप्त कर पाते। अधिक से अधिक दूसरे स्वर्ग तक ही तो उत्पन्न होते हैं। तो जिन भवों में मौज है वे अपनी प्रगति नहीं कर पाते और यहाँ कर्मभूमि के मनुष्यों में वियोग के क्लेश, शारीरिक रोग आदिक के क्लेश, कितने क्लेश हैं, ऐसे क्लेश वाले भव में रहने वाले मनुष्य ऐसा उत्कृष्ट वैराग्य प्राप्त कर लेते हैं कि वे निर्वाण को भी प्राप्त हो जाते हैं। एक भव की एक साधारण बात कही जा रही है। तो सम्यग्दृष्टि मनुष्य विपदाओं से घबड़ाता नहीं, वह अकम्प अपने ज्ञानस्वभाव को निहारता रहता है और मौजों में आसक्त नहीं होता। उन मौजों में भी निराकुल अपना ज्ञानस्वरूप प्रतीति में रखता है। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष, तत्त्वज्ञानी पुरुष उन पर रागादिक भी गुजरें तब भी वे उन रागादिक विकारों से भिन्न अपने स्वरूप की बराबर प्रतीति बनाये रहते हैं। यह भी एक बड़ा पुरुषार्थ है और रागादिक गुजरें ही नहीं, दूर हो जायें तो यह ऊँचा ही पुरुषार्थ है। रागादिक का समूल नष्ट हो जाना यह ही परमशान्ति का उपाय है, उसका उपाय अब ही से बनाना चाहिए जिससे ये रागादिक क्षीण हो जायें। ये सारे समागम तो छूटेंगे हीं, इनको पहिले से ही छूटा हुआ अनुभव कर लें तो ये एकदम समूल भी नष्ट हो जाया करते हैं।

श्लोक-1103

स्वतत्त्वानुगतं चेतः करोति यदि संयमी।
रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति भ्रमसागरे॥1103॥

रागादिकों की बलवत्ता का संकेत— रागादिक भाव ही जीव को दुःख देते हैं। यों तो संसार में अनेक जीव हैं और अपने से सब जीव एक समान न्यारे हैं। इन सब जीवों में ऐसा कुछ भी नहीं है कि यह मेरा हो अथवा यह गैर का हो। सभी जीव अपने से न्यारे हैं लेकिन उनमें रागभाव होता है, स्नेह जगता है तो उससे क्लेश ही होता है। मोह रागद्वेष में कोई जीव सुखी नहीं हो सकता। दुःख इतना ही मात्र है। जो राग लगा है बस उतना ही क्लेश है। जो नाना तरह के क्लेश मानते हैं सो वे सब नाना क्लेश नहीं हैं, वे सब एक जाति के क्लेश हैं, अपने स्वरूप से चिगे और बाहरी पदार्थों में चित्त लगाया, यह मेरा है यही है सारा क्लेश। तो संयमी पुरुष निज अंतस्तत्त्व में लगे हुए चित्त को भी यदि रागादिक भाव कुछ आये चित्त में तो उसे फिर भ्रष्ट कर देता है। रागादिक भाव ऐसे उत्कृष्ट मन को भी भ्रमसागर में पटक देता है। इससे यह यत्न करना चाहिए कि ये रागादिक भाव हम पर हामी न बन जायें। एक रागभाव भीतर में न बनने दें, फिर

क्लेश न रहेगा। क्लेश सब मान रहे हैं, पर क्लेश का कारण जो राग है उसको छोड़ने की भावना भी नहीं करते। तब बतावो रागादिक छूटे बिना शान्ति कैसे हो सकती है?

श्लोक-1104

आत्माधीनमपि स्वान्तं सदयो रागैः कलङ्कयते।
अस्तन्द्रैरतः पूर्वमत्र यत्नो विधीयताम्॥1104॥

रागविजय के लिये अस्ततन्दता की आवश्यकता— ऐसा भी मन बना लिया जिस योगी पुरुष ने कि अपने अधीन हो गया हो फिर भी यदि रागभाव जगता है तो ऐसा पवित्र किया गया मन भी शीघ्र कलंकित हो जाता है। अतः निष्प्रमाद होकर पहिले इसी विषय में ही यत्न करना चाहिए, ऐसा तत्त्वज्ञान चित्त में रखना चाहिए कि रागादिक भाव फिर हमारे चित्त को मलिन न कर दें। गृहस्थचर्या भी बहुत विधि की चर्या है। यद्यपि यह साक्षात् मोक्ष का मार्ग नहीं है लेकिन जिनको तत्त्वज्ञान जगा हो, जिसने अपना लक्ष्य सम्हाल लिया हो वह गृहस्थी में रहकर अपनी चर्या को बहुत पवित्र बना सकता है। गृहस्थचर्या में तीन वर्ग से काम पड़ता है धर्म, अर्थ और काम। तत्त्वज्ञानी गृहस्थ को इन तीन कामों में भी व्यग्रता नहीं रहती। धर्म के समय शुभोपयोग के समय, पूजा आदिक के अवसर में धर्मध्यान बनायें और जब आजीविका का समय हो तब दूकान पर आजीविका का कार्य किया और शेष समय गृहसमाज व्यवस्था आदिक के कार्य किया तो उस वातावरण में कलुषता का भी कहाँ अवसर है? तत्त्वज्ञान न हो, अज्ञान बसा हो तो उसे सब जगह कलुषता रहती है। लक्ष्य में यह आना चाहिए कि यह जगत यह घर यह समागम केवल मायाजाल है, स्वप्नवत् है, सारभूत कुछ है नहीं। संयोग हुआ है तो इनका वियोग जरूर होगा, इनमें क्या रमना? हित की बात तो अपने आपमें अपनी दृष्टि बना लेना है और अपने में मग्न रहना है। ऐसा लक्ष्य बन जाय, ज्ञानदृष्टि बन जाय फिर यह गृहस्थ घर के कर्तव्यों को निभाकर भी पवित्र चित्त रहा करता है और साधुजन तो वे ही कहलाते हैं जो ज्ञान की साधना बनाये रहें, जिनको इतना स्पष्ट भेदविज्ञान हो गया वे आत्मतत्त्व की ओर दृष्टि बनाये रहा करते हैं। उन्हें रागादिक से मलिन होने का कहाँ अवसर है? तो गृहस्थावस्था में गृहस्थ के योग्य रागादिक न होना और साधु अवस्था में साधु के योग्य रागादिक न होना इसके लिए हमें यत्न रखना चाहिए।

श्लोक-1105

अयत्नेनापिजायन्ते चित्तभूमौ शरीरिणाम्।

रागादयः स्वभावोत्थज्ञानराज्याङ्गघातकाः॥1105॥

रागादिकों की ज्ञानराज्यघातकता:— प्राणियों के चित्तरूपी भूमि में ये रागादिक विकार बिना ही यत्न के अनायास ही उत्पन्न हो जाया करते हैं और ये रागादिक उस ज्ञान राज्य का घात करते हैं जो साम्राज्य स्वभाव से उत्पन्न होता है। इसमें यह बात भी बता दी गई कि एक तो अनादिकाल से रागादिक में वासित चित्त होने से स्वभाव से ही रागादिक उठ रहे हैं, अनायास ही बिना श्रम किए और फिर कभी राग का साधन बनाये, कुछ ज्ञान कला पाये तो फिर उसके रागादिक विप्लव का ठिकाना ही क्या है? यह भाव केवल पीड़ा ही करता है। अपनी बीती हुई घटनाओं में सब सोच लो। रागादिक करने का फल कभी मधुर नहीं हो सकता। जितने काल भी उस समागम में रहकर मौज माना उतने काल में एक बहुत बड़ी गलती की है। जैसे कि जिसकी जितनी उमर गुजर गई है उसे लग रहा है ना कि यह इतनी उमर कैसे चली गयी, और अभी ऐसा मालूम पड़ता कि बहुत बड़े दिन होते। अरे आज बहुत बड़े दिन लग रहे। पर ये जो 50-60 वर्ष गुजर गए वे कैसे लग रहे? वे भी तो यों ही चले गए। उनके समय की लम्बाई अनुमान में नहीं आती। तो समागम में जो प्राप्त हुआ है इष्ट का वह कितने काल का समागम है? उसमें क्या हर्ष मानना? ये रागादिक भाव बनाये गए समागम में तो वियोग होने पर यह बहुत क्लेश पायगा नियम से। ज्ञान का सहारा लिए बिना हम आपका गुजारा न होगा चैन न मिलेगी। इन बाह्य वातावरण में विकारों में उलझकर हम कुछ पूरा नहीं पाड़ सकते, दुःखी ही रहेंगे। हम आपकी गलती क्या है? बड़े-बड़े महापुरुष भी अपने जीवन में कैसे-कैसे चरित्र कर गए उन्हें तो निहारिये। संयोग वियोग में कैसे-कैसे क्षोभ मचाये? अब वे कहाँ रहे? तो ये कुछ इष्ट समागम पाकर या उसकी कल्पनाएँ करके या उन साधनों से सुख होती है ऐसी अपनी बुद्धि बना करके जो विकार उत्पन्न किया जाता है वह विकार हमारे ज्ञानसाम्राज्य का घात करने वाला है। बहुत ही शीघ्र इन रागादिकों के दूर करने का यत्न करना चाहिए और विचार करना चाहिए।

निर्विकार स्वत्व के परिचय में चतुराई:— भैया ! कुशलता में इतना ही फर्क है कि जो बुद्धि कुछ समय बाद आयगी वह बुद्धि कुछ समय पहिले आ जाय इतना ही सारा अन्तर है। इतनी त्रुटि हो जाने पर किसी को वह त्रुटि घंटाभर में ही समझ में आ जाती है। किसी को दो चार दिन में समझ में आती है और किसी को 5 मिनट के बाद में ही समझ में आ जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव जिस समय गलती कर रहा है उसी समय समझता रहता है, यह हे सारा अन्तर। अपने अनुभव से देख लो। गलती करते हुए यह नहीं लगता कि हम

कुछ गलती कर रहे हैं, पर गलती कर चुकने के बाद कुछ समय के अनन्तर महसूस होता है ओह !मैंने गलती की थी। तो जो बुद्धि कुछ समय बाद जगेगी वह बुद्धि अभी ही तुरन्त जग जाय, त्रुटियों के समय में भी जगती रहे बस यह सम्यग्दृष्टि की कला है, वह मोक्षमार्गी की प्रवृत्ति है। प्राणियों की चित्तरूपी भूमि में ये रागादिक अनायास पहुँच जाते हैं। प्रभु से यही तो प्रार्थना करना है, प्रभु एक पवित्र ज्ञानमूर्ति है, मुझे अपने उपयोग के निकट विराजमान करके यह भाव करना है कि हे प्रभो !अज्ञान का उपद्रव मेरा समाप्त हो। उस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व के निकट अधिक बसा करूँ— यह भावना प्रभुपूजा के समय अपने चित्त में भरता है ज्ञानीजीव। और कुछ नहीं चाहता। निर्वाध होकर धर्मसाधना करना। क्यों ज्ञानी पुरुष तुम्हें वैभव न चाहिए क्या? क्या करें वैभव का? भिन्न पदार्थ है, करोड़ों का भी वैभव हो तो उससे मुझे लाभ क्या? क्यों भक्त तुझे अपना यश न चाहिए क्या? हे प्रभो ! क्या करूँयश नाम का, किसको अपना नाम जताना है, कौन यहाँ समर्थ है, अधिकारी है या मेरा पालनहार है या कौन यहाँ मेरा सुधार बिगाड़ करने वाला है? हे प्रभो ! यहाँ तो मेरा कोई प्रभु नहीं है, मैं यहाँ किसको क्या जताऊँ, ऐसा निर्वाछ होकर ज्ञानी पुरुष प्रभु उपासना में ज्ञानसाधना में जुटता है।

श्लोक-1106

इन्द्रियार्थानपाकृत्य स्वतत्त्वमवलम्बते।

यदि योगी तथाप्येते छलयन्ति मुहुर्मनः॥1106॥

रागादिकों द्वारा भावमन का छलनः— योगीपुरुष इन्द्रिय विषयों को दूर करके आत्मतत्त्व का आलम्बन लेते हैं, फिर भी ये रागादिक भाव बराबर इस मन को उलझाते छलते हैं। एक बार समवशरण में किसी एक श्रावक ने अपने किसी गुरु के बाबत पूछा— महाराज वह मुनिराज किस भाव के हैं, कहाँउनका जन्म होगा? तो उत्तर मिला कि अभी-अभी आध मिनट पहिले ऐसा परिणाम था कि उस परिणाम में यदि वह मरता तो नरक जाता और अब उसका ऐसा परिणाम है कि मृत्यु हो तो वह स्वर्ग जायेगा। तो ये विकार क्षण-क्षण में कितना ऊँच और नीच बदलते रहते हैं। इन्द्रिय के विषयों की वासना भी नहीं रही। आत्मतत्त्व का आलम्बन भी अधिकतर किया करता है ऐसा ज्ञानी और विरक्त है साधु, तिस पर भी वे रागादिक उनके मन को छलते रहते हैं। बैरी हैं अपने ये रागादिक भाव। दूसरा जीव कोई बैरी नहीं। जिस बात में राग लगा है वह राग दुःखी कर रहा है। किसी को सम्पदा में राग है, तो वह राग बैरी है। सम्पदा के घात करने वाले अथवा यह सम्पदा कोई बैरी नहीं है।राग बैरी है।कभी-कभी किसी जीव को धर्मात्मा जन भी नहीं सुहाते और ऐसी स्थिति में वे

दुःखी रहा करते हैं। तो क्या उसको धर्मात्मा ने दुःखी कर दिया? नहीं। उसे कुछ अपने विषय लगे हैं अपनी आदत अपने आचार उसके न्यारे हैं जिसमें लाचार होकर वह धर्मात्माजनों को भी अपना बैरी समझ लेता है। एक दोहा बहुत प्रसिद्ध है। एक सूम कहीं दूसरे धनी को दान करते हुए देख आया तो उसके बुखार चढ आया। अहो ये लोग कैसा लुटाये दे रहे हैं। उसकी उदासी को देखकर नारी पूछती है—“नारी पूछे सूम से काहे बदन मलीन? क्या तेरो कछू गिर गयो या काहु को दीन?” स्त्री क्या पूछती हे कि आज आप इतने उदास क्यों हैं? आपने आज किसी को कुछ दे डाला है या आपका कुछ गिर गया है?तो वह पुरुष उत्तर देता है “ना मेरा कछू गिर गयो ना काहु को दीन। देतन देखा और को तासो बदन मलीन।।” हे नारी ! मेरा कुछ गिर नहीं गया है और नकिसी को कुछ दे डाला है, पर औरों को दान देते हुए देख लिया, कैसा वे सारा का सारा धन बड़े परिश्रम से कमाया हुआ लुटाये दे रहे थे, इस बात को देखकर आज मेरा मल मलिन है। तो अपने ही आचार के कारण कुछ पुरुष ऐसे होते हैं जो धर्मात्माजनों को भी अपना बैरी समझ लेते हैं। निष्कर्ष यह निकालें कि किसी न किसी पदार्थ में राग लगा है जिससे यह जीव दुःखी है।

श्लोक-1107

क्वचिन्मूढं क्वचिद्भ्रान्तं क्वचिद्भीतं क्वचिद्रुतम्।
शङ्कितं च क्वचित् क्लिष्टं रागाद्यैः क्रियते मनः॥1107॥

रागादिकों द्वारा मन की दुःस्थितिः—ये रागादिक भाव मन को ऐसा बना देते हैं कि यह मन कभी किसी पदार्थ में मोहित हो जाता है और कभी किसी पदार्थ में। कभी मन भ्रमरूप बन जाता है बावलों जैसा। वहाँ देखा, यहाँ गया, वहाँ गया। यों बावला बन जाता है और कभी यह मन भयभीत हो जाता है। ये सब रागादिक के फल हैं। तीव्र राग होने के ये फल हैं कि मूढ़ बन जाय, भ्रान्त बन जाय और भयभीत बन जाय। जिस पदार्थ में राग है उसके पीछे सारे क्लेश बने रहते हैं। एक गुरु शिष्य थे। गुरु को कहीं से 7-8 किलो की एक सोने की मूर्ति मिल गयी। जहाँ कहीं भी जाये वह ईंट शिष्य के सिर पर रख दे। गुरु आगे चले और शिष्य पीछे। जब कभी जंगल में आवे तो गुरु शिष्य से कहता कि देखो बेटा चुपकर चलना, आहट न हो। क्योंकि यहाँ डर है। एक दिन क्या हुआ कि रास्ते में उस शिष्य ने एक कुवें में उस ईंट को पटक दिया। गुरु ने शिष्य से फिर कहा— देखो बेटा यहाँ डर है, चुपकर चलना, आहट न होने पाये। तो वह शिष्य कहता है— महाराज आप खूब निःशंक होकर चलो, डर को तो मैंने कुवें में पटक दिया है। तो किसी भी वस्तु में अगर रागभाव बना है तो मन की ऐसी ही स्थिति बन जाती है। मन में भ्रान्ति रहती है, मन भयभीत रहता है। निष्कर्ष यह

निकला कि हम आपका जो कुछ भी दुःख है वह परवस्तु में जो राग बना है उसका दुःख है। इस दुःख को मिटाने के लिए हम आपको भरसक प्रयत्न करना है। बहुत-बहुत श्रम करते लेकिन उन श्रमों से फायदा क्या? दुःख तो होता है रागभाव से। यदि ऐसा तत्त्वज्ञान जगे कि मैं विषयों में विषयों से दूर हो जाऊँ, तो फिर समझिये कि सारे क्लेश दूर हो गए।

श्लोक-1108

अजस्रं रुध्यमानेऽपि चिराभ्यासाद्दृढीकृताः।

चरन्ति हृदि निःशङ्का नृणां रागादिराक्षसाः॥1108॥

रागादिकों की कुपथ में निःशंकवृत्ति— मुनियों के निरन्तर वश किए हुए मन में भी ये चिरकाल से वासना में चले आये हुए रागादिक राक्षस निःशंक होकर इनमें परिणति करते हैं अर्थात् बहुत यत्न किया ज्ञान वैराग्य, तपश्चरण, संयम आदिक से अपने आपके मन को बहुत पवित्र बनाया, फिर भी अनादिकाल से लगी हुई चाह का जो अभ्यास चल रहा था, वासना चल रही थी उस संस्कार के कारण इतना ऊँचे उठने पर भी ये रागादिक निःशंक होकर इनमें नाचते हैं और फिर वहाँ आत्मा का पतन होता है। इससे बढ़कर और क्या उदाहरण होगा कि कोई साधुपुरुष उपशम श्रेणी में चढ़कर 11 वें गुणस्थान में पहुँच जाता है और वहाँ राग का उदय आता है तो कैसा गिरते-गिरते पहिले गुणस्थान में पहुँच जाता है? मोह और मिथ्यात्व में पग जाय, इससे बढ़कर और क्या उदाहरण हो सकता है? ऐसा प्रमाद करके थोड़ी त्रुटि करे, लापरवाही हो जाय तो ये रागादिक भाव आत्मा में उत्पन्न होकर जो कुछ किया हुआ था धर्म उन्नति उसे भी ये खतम कर देते हैं। बहुत जरूरी चीज है कि ज्ञान में उपयोग बना रहे। इसके लिए स्वाध्याय और सत्संग ये दो अवश्य होने चाहिए। स्वाध्याय व सत्संगति करके ज्ञान अपना विशुद्ध बना रहे तो हम इन रागादिक भावों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। स्वाध्याय व सत्संग को इस जीवन में प्रमुख स्थान देकर रागादिक भावों पर विजय प्राप्त करें। यही शान्त होने का सुगम और सीधा उपाय है।

श्लोक-1109

प्रयासैः फल्गुभिर्मूढ किमात्मादण्डयतेऽधिकम्।

शक्यते नैहि चेच्चेतः कर्तुं रागादिवर्जितम्॥1109॥

मन को रागादिवर्जित किये बिना दण्डविनाश की असंभवता— कहते हैं कि हे मुग्ध प्राणी ! यदि अपने चित्त को रागादिक से रहित नहीं बना सकते तो व्यर्थ के बड़े-बड़े परिश्रमों से, तपश्चरणों से, कायक्लेशों से आत्मा को इतना अधिक दण्ड क्यों देते हो? अर्थात् रागादिक मिटे तो अन्य प्रकार के श्रम करना, खेद करना निष्फल है। जो प्रयोजन था दीक्षा का, जो प्रयोजन था साधना का वह है मोक्षमार्ग। उसकी सिद्धि नहीं होती है जब तक सम्यग्ज्ञान और चारित्र नहीं बनता। अपने चित्त को कोई रागरहित कर ले तो उसने किया सर्व कुछ पुरुषार्थ संसार के संकटों से छूटने का। और यहाँ चित्त को रागरहित तो बना न पाये और बाहरी क्रिया में कुछ भी करे तो उससे मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती। अतः हे मुमुक्षु ! ऐसा तत्त्वज्ञान जगा, ऐसा वातावरण बना, सत्संग बना, ज्ञानोपयोग में अधिक रत रह, जिससे कि चित्त रागादिक विकाररहित हो जाय, तब तो आत्मध्यान होगा और इसके प्रसाद से परमपुरुषार्थ मोक्षतत्त्व की सिद्धि होगी।

श्लोक-1110

क्षीणरागं च्युतद्वेषं ध्वस्तमोहं सुसंवृतम्।
यदि चेतः समापन्नं तदा सिद्धं समीहितम्॥1110॥

चित्त के रागद्वेषरहित होने पर ही समीहितसिद्धिः—यदि अपना मन ऐसा बन सकता है कि जिसमें न कोई राग आये, न द्वेष आये, मोह भी ध्वस्त हो जाय, ऐसा यदि सम्वृत मन बना सकता है तो समझ कि सब कुछ सिद्धि प्राप्त कर ली। चाहिए यह कि दुःख न हो। और दुःख नहीं होता है राग के न रहने से। यदि ऐसा उपाय बन जाय कि राग स्नेह न रहे तो उसने सब कुछ पा लिया अर्थात् अब क्लेश रहेगा नहीं। तो सिद्धि उसने ही पायी। अन्य वस्तुओं के समागम में कौनसी समृद्धि है? ये सुख दुःख देकर जाते हैं। सुख दुःख देकर जाते हैं— यह इसलिए कहा जाता कि दुःख ही दुःख किसी जीव के निरन्तर चिरकाल तक नहीं रह सकता। यह एक परिणमन की प्रकृति है। कुछ न कुछ दुःख में कमी आ जायगीएक, समान क्लेश रहता नहीं है। दुःख के बाद सुख आता सुख के बाद दुःख आता। तो ऐसा सुख किस काम का कि जिसके बाद दुःख आये। संसार के सुखों के बात निरख लो। कुटुम्ब हुआ, संयोग हुआ, आज्ञाकारी पुत्रादिक हुए, कुछ मजे में समय बिताया। अब उस मजे का क्या करें कि जिसके बाद एकदम वज्राघात जैसा क्लेश आयेगा। वियोग तो होगा ही। खुद मरेंगे तो एक साथ सबका वियोग हुआ और अपनी जिन्दगी में कोड़ गुजरा तो उसका वियोग

हुआ और गुजरने से वियोग हुआ तो गुजरने वाले का गया क्या? वह तो कहीं जाकर नया शरीर धारण करेगा। जो बच रहे वे तो बड़ा क्लेश मानेंगे। महिलायें तो दो-दो माह तक के लिए मंदिर भी जाना छोड़ देती हैं जो कि एक शान्ति का कारण है। मंदिर जायें तो उपयोग बदले, प्रभुमुद्रा निहारें, कुछ परिणाम में शान्ति आये, एक ऐसी वियोग की अशान्ति थी, अब शान्ति का साधन भी छोड़ दिया। संयोग का क्या करे? खूब सोच लो। इसमें रंच सार नहीं है। समय पाकर बात अच्छी तरह विदित हो जाती है और ज्ञानी पुरुष को बहुत ही अच्छी तरह विदित हो जाता है।

समागम के स्नेह में विषाद का लाभ:— जितने भी समागम हैं वे सब विनश्वर हैं। समागम की प्रीति में लाभ नहीं। जैसे कि रेलगाड़ी में बैठकर सफर कर रहे हैं, किसी यात्री से बात करने पर अधिक स्नेह हो जाय तो जब उसका जाने का स्टेशन आ गया तो जायगा ही। उसी समय देख लो कुछ थोड़ा बहुत दुःख होता कि नहीं। उस 10-5 मिनट के संग से स्नेह से तो इतना क्लेश मिला, यह तो गैरों की बात है और जिनमें स्वच्छन्द होकर स्नेह किया जा रहा है उन पदार्थों के वियोग में तो कितना इसे क्लेश न होगा? तो इन समागमों का कोई मूल्य नहीं है। इनसे राग छोड़ने में ही लाभ है, और जब राग छूटा, शिथिल हुआ तो फिर द्वेष कहाँ करेगा? जितने द्वेष होते हैं वे किसी न किसी बात के राग पर हुआ करते हैं। द्वेष छूटे। ये रागद्वेष मोह की संतान हैं। तो अब समझिये कि हमारा सारा मोह ध्वस्त हो, ऐसा नियंत्रित चित्त यदि बनाया जा सकता है तो समझ लीजिए कि मनोवाञ्छित अर्थ की सिद्धि प्राप्त हुई। शान्ति के लिए जहाँ अनेक यत्न करते हैं यह एक भी यत्न करके देख लें। ऐसा ज्ञान बनायें, ऐसी भावना करें कि किसी बाह्य अर्थ में राग न आये, ऐसा एक अपना आचरण बने तो वह है शान्ति का सही उपाय। जिस तरह शान्ति आये उस तरह उपाय बनाना यह तो परमकर्तव्य ही है। ज्ञान पाने का फल भी यही है। कभी डगमगा भी जाय, यत्र तत्र स्नेह पहुँच भी जाय तो मांग तो एक ही है। कितनी भी भूल भटक गये हों तब भी शरण यह जैनशासन ही है। राग छोड़ो, द्वेष छोड़ो, मोह छोड़ो। जब चित्त यों मोहरहित हो जाता है तब समझिये कि मनोवाञ्छित कार्यों की सिद्धि हुई है।

श्लोक-1111

मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे।

पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन् स्वरूपं परमात्मनः॥1111॥

मोहक्षय व रागप्रशान्ति होने पर ही स्वरूप का दर्शन:— मोहरूपी कीचड़ के नष्ट हो जाने पर और रागबिम्ब की शान्ति हो जाने पर संयमी जन अपने आपमें परमात्मा का स्वरूप निहारते हैं। जब तक किसी परभाव में अहंबुद्धि लगी है तब तक परमात्मस्वरूप कभी नजर नहीं आ सकता। अहंकार भाव लगा रहे तो वहाँ परमात्मतत्त्व नहीं स्फुरित होता। जो मैं हूँ उस ही में उस 'मैं' का अनुभव हो तो परमात्मतत्त्व का दर्शन होता है। अब परवस्तु में अहंबुद्धि कोई बनाये तो वहाँ प्रभु के दर्शन नहीं हो सकते। समवशरण में भी कोई जाकर देखे तो इन आँखों से भगवान के दर्शन न होंगे। दिख तो जायेगा दिव्य और अरहंत भगवान का वह परमोदारिक देह, पर जो देखा है वह भगवान नहीं है, वह तो एक दिव्य देह है। हम आपका जरा देह घिनावना है उनका कुछ पवित्र हो गया। पर जो आँखों से दिखा वह भगवान नहीं है। भगवान का स्वरूप मिल तो जायगा। पर चर्मचक्षुषों की अपेक्षा न रखकर ज्ञाननेत्र से तका जाय वह जो रागद्वेष रहित ज्ञानानन्द की मूर्ति है। वह अमूर्त विशुद्ध परमात्मतत्त्व है और बहुत ही पूर्ण ढंग से निहारने लगे परमात्मतत्त्व तो बाहर में उस देह का भी आधार नहीं बनाया। उस परमज्योति को निहारते-निहारते बाहर का आधार छूट जाय और स्वयं के ज्ञानविकासरूप वह ध्यान बनता है तो ऐसी एकरूपता हो जाने पर परमात्मतत्त्व के स्पष्ट दर्शन होते हैं। जब मोहपंक परिक्षीण हो जाय, जब रागादिक भ्रमजाल शान्त हो जाय तो अपने आपमें परमात्मस्वरूप दिखता है।

अहंकार में प्रभु का अदर्शन— एक कहावत प्रसिद्ध है कि नाक की ओट में प्रभु छिप जाते हैं, प्रभु का दर्शन नहीं होता है। कोई था नकटा तो उसे लोग चिढ़ायें। सोचा कि कोई उपाय करना चाहिए जिससे लोग चिढ़ायें नहीं। एक उपाय सूझ गया। जब किसी ने उसे नकटा कहकर चिढ़ाया तो वह नकटा कहने लगा कि तुम क्या जानो इस नकटे का स्वाद? इस नाक की ओट में प्रभु के साक्षात् दर्शन नहीं होते, नाक की ओट में भगवान छिपे रहते हैं। मुझे तो देखो साक्षात् प्रभु के दर्शन हो रहे हैं— वह हैं भगवान। उसकी बात सुनकर उस पुरुष ने भी अपनी नाक कटा डाली। जब उसे इतने पर भी प्रभु के दर्शन न हुए तो उस दूसरे नकटा ने पहिले वाले नकटे से कहा कि मुझे तो प्रभु के दर्शन नहीं होते। तो पहिले वाला नकटा कहता हैकि नाक के कटने से प्रभु के दर्शन नहीं होते। अब तो तुम नकटा हो ही गए। लोग चिढ़ावेंगे ही, इसलिए तुम सबसे यही कहो कि नाक कटा लेने से प्रभु के साक्षात् दर्शन होते हैं। वह भी यही कहने लगा। लो इसी प्रकार से सारे गाँव के लोग नकटा हो गए। अब कौन किसको चिढ़ावे? तो इस नाक की ओट में कहीं भगवान नहीं छिपे हैं। नाक मायने हैं अहंकार। लोग कहते भी हैं कि उसने अपनी नाक रख ली। यह अहंकार मिटे, रागादिक भ्रम क्षीण हो, मोह दूर हो तो योगीजन अपने आपमें परमात्मा के स्वरूप का दर्शन करते हैं। परमात्मतत्त्व के ध्यान के लिए मिलने के लिए अथवा स्वयं के परमात्मतत्त्व के विकास के लिए एक ही मार्ग है, एक ही चारा है कि रागादिक विकार दूर करें, स्नेह बढ़ाने में बनाने में तत्त्व कुछ नहीं निकलेगा। बात सबकी एक सी है।

चाहे धनी हो, चाहे निर्धन हो, पंडित हो, मूर्ख हो, त्यागी हो, गृहस्थ हो सबके लिए बात एक है। जो राग करेगा सो दुःखी होगा। जैसे मनुष्य-मनुष्य जितने हैं सब एक ही ढंग से तो पैदा होते, एक ही आकार के वे बनते हैं और एक ही ढंग से मरते हैं, तो ऐसे ही दुःखी होने की भी सबकी एक प्रक्रिया है। कहीं हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन ये नाम रख लेने से उत्पन्न होने में फर्क तो न आ जायगा, ऐसे ही कहीं भेष रख लेने से या कोई पद ले लेने से इस सिद्धान्त में फर्क न आ जायगा। यदि राग है तो दुःख अवश्य होगा। सबके दुःखी होने का एक ही ढंग है। रागद्वेष मोह विकार करे तो वह दुःखी होगा। जब ये रागादिक दूर होते हैं तो शुद्ध आनन्द का अनुभव होता है, परमात्मा का दर्शन होता है।

श्लोक-1112

महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः।

योगिभिर्जर्नाशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः॥1112॥

ज्ञानशास्त्र के द्वारा रागमल्ल का निपातनः— मुक्तिरूपी लक्ष्मी के संग की चाह करने वाले ऋषीश्वरों ने महान प्रशमरूपी संग्राम में ज्ञानरूपी शस्त्र से रागरूपी मल्ल का निपात कर लिया। कोई संग्राम हो तो किसी प्रयोजन के लिए ही तो संग्राम होता है। जैसे पहिले सुना जाता था कि किसी राजकन्या के विवाह के लिए संग्राम होता था तो कन्या को चाहने वाले लोग जो संग्राम करते थे वे शस्त्रों से ही तो करते थे और उसमें जिसे बाधक माना उसका हनन करते थे। तो यहाँ है मुक्ति की चाह। सो इस मुमुक्षु को इन रागद्वेषादिक विकारों से संग्राम करना पड़ रहा है। इन रागादिक शत्रुओं से संग्राम करने के हथियार हैं प्रशम, क्षमा, तत्त्वज्ञान। उनके द्वारा ये रागादिक क्षीण कर दिये जाते हैं। दुःख का कारण है राग। और राग को दूर करने का उपाय है प्रशमभाव, तत्त्वज्ञान। सो उस ज्ञानशस्त्र से, प्रशमशस्त्र से रागादिक बैरियों का विनाश योगीश्वर कर देते हैं। झगड़ा कि स बात पर इतना लदा हुआ है, कितना बड़ा यह उत्पात है, कितनी बड़ी यह विडम्बना है कि शरीर मिला और शरीर भी अटपटा। इस अटपटा शरीर में यह आत्मा फँसा हुआ है। न इसका ज्ञान बढ़ सक रहा न आनन्द मिल रहा, इतनी सब तो विडम्बनाएँ हैं। इन सारी विडम्बनाओं के मूल कारण की खोज की जाय तो कारण यही मिलेगा कि अन्य पदार्थ में इसने कल्पना कर ली है कि यह मैं हूँ। इतना तो हुआ एक विरुद्धभाव कर लेने का अपराध और उस पर छा गया है इतना बड़ा जाल। तो जब मूल की गलती निकाल दी जाय, परतत्त्वों में, परपदार्थों में यह मैं हूँ इससे मेरा हित है, यह मेरा है, इस प्रकार का आशय न रहे तो फिर ये सारी विडम्बनाएँ दूर हो जाती हैं। देखिये— ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं, श्रम नहीं, कठिन

बात नहीं। इतने पदार्थों को जानते तो रहते हैं। गाँव, नगर, लोग यह सब ज्ञान का ही तो आना है। तो जैसे ये जानने में आ जाते हैं, इस तरह वस्तु का स्वरूप भी जानने में जो आ सकता है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में है। मैं एक चिदात्मक स्वरूपमात्र हूँ, यह जानने में आ गया तो फिर आ ही गया जानने में। अब दूसरी बात क्या बने? यथार्थ निर्णय हो जाय तो उसे फिर सब मार्ग मिल जाता है।

श्लोक-1113

असंकलिष्टमविभ्रान्तमविप्लुतमनाकुलम्।

स्ववशं च मनः कृत्वा वस्तुतत्त्वं निरूपय॥1113॥

मन को अनाकुल स्ववश करके ही वस्तुतत्त्व के अवलोकन की शक्यता:— हे आत्मन् ! अपने मन को वश कर ले, संक्लेशरहित कर ले, श्रमरहित बना ले, निराकुल कर ले और फिर वस्तु के स्वरूप को खूब निहारता रह। मन जब तक संक्लेश में रहता है तब तक यह मन वस्तुस्वरूप का अवलोकन नहीं करता। जब चित्त में भ्रमजाल लगे हुए हैं तो फिर वस्तुतत्त्व का निरूपण नहीं बनता। यहाँ निरूपण का अर्थ प्रतिपादन नहीं है किन्तु अवलोकन है। भली-भाँति देखना। कोई बोले कि अमुक आदमी कहता है तो उसका भाव और है, अमुक आदमी निरूपण करता है उसका भाव और है। कहने में तो कहना ही है, वचन निकाल दिया और वह कहना एक रिकार्ड की तरह है। और निरूपण में कहने की भी मुख्यता नहीं। कहते हैं उसका अर्थ यह है निरूपण में कि समस्त वस्तुस्वरूप को अपने ज्ञान में ले रहा है, अवलोकन कर रहा है। तो जब मन स्थिर हो, किसी प्रकार का भ्रम नहीं, यथार्थ परिज्ञान है, निर्णय है, तब निराकुल बनता है और तब ही वस्तुत्व का निरूपण बनता है। सो हे आत्मन् ! एक अपने मन को वश कर ले और वस्तुस्वरूप के निरूपण का आनन्द प्राप्त कर। वश भी चलता है अपने आप पर, दूसरे पर नहीं चलता। पड़ोसियों के बच्चे जब आपस में लड़ते हैं तो किसी को अगर बैर विरोध नहीं बढ़ाना है एकदम सब शान्त कर देना है तो बुद्धिमान पुरुष का कर्तव्य है कि वह अपने ही बच्चे को डाट दे, लो झगड़ा मिट गया, और अगर किसी दूसरे के बच्चे को डाटे, मारे पीटे तो झगड़ा और बढ़जाता है। तो वश चलता है अपने आप पर। यह एक दृष्टान्त दिया है, बच्चा भी कुछ अपने आपका नहीं है। इसी प्रकार इस बड़े संग्राम के लिए वश करना चाहिए अपने आपके मन को। हम पदार्थों को जोड़जोड़कर सुखी बनाना चाहें, अपने को तो यह बात तो असम्भव है और पदार्थों की हम इच्छा ही न करें ऐसा ज्ञान में अपने आपको ले जायें कि किसी पर की वाञ्छा न रहे तो यह उपाय सुगम है, स्ववश है। परवस्तु को निरखकर चाहने की आदत में रोना मिट नहीं सकता, क्योंकि जो बात बनने की नहीं

उसकी हठ से कुछ लाभ नहीं है। और यह सब हठ चूँकि लोग बड़े हैं और अक्ल वाले कहलाते हैं इसलिए बड़े नहीं मालूम पड़ते हैं। हम जो हठ करते हैं वह ठीक ढंग से सही कर रहे हैं यों लगता है, मगर हठ होती है परवस्तुओं में और वे सभी के हठ यों समझिये कि जैसे कोई बालक पहिले हाथी खरीदने का हठ करे कि मेरे लिए हाथी खरीद दो, और मान लो उसका पिता महावत से कह कर हाथी उसके पास खड़ा करवा दे। कुछ देर बाद वह बालक कहता है कि अब इस हाथी को मेरी जेब में भर दो। भला बतलावो इस काम को कौन कर दे? इस बात को सुनकर कुछ हँसी सी आती है। ऐसी ही हँसी के लायक हम आपके हठ हैं। जो-जो भी परिग्रह में बुद्धि देते हैं, परिग्रह का संचय करते हैं वे सब हठ उस बालक के हठ की तरह हैं, पर जहाँ सभी ऐसे ही विचार के लोग हों तो कौन किसका मजाक करे? सभी उसी तरह के हैं, पर जितने ये हट हैं ये सब हठ उपहास के योग्य हैं। तो उन सब बाह्य दृष्टियों को त्यागकर जो अपने मन को वश कर लेता है वही पुरुष वस्तु के स्वरूप का निरूपण करता है अर्थात् समग्र वस्तुओं को न्यारा-न्यारा निरखकर उपेक्षा करके अपने आपमें सन्तुष्ट रहा करता है और जब आत्मध्यान बनता है तब ही परमात्मस्वरूप का दर्शन होता है।

श्लोक-1114

रागाद्यभिहतं चेतः स्वतत्त्वविमुखं भवेत्।

ततः प्रच्यवते क्षिप्रं ज्ञानरत्नाद्रिमस्तकात्॥1114॥

रागाद्यभिहत मन की स्वतत्त्व विमुखता:— जो मन रागादिक विकारों से विपरीत है वह अपने आत्मतत्त्व से विमुख हो जाता है और फिर इस ही कारण मनुष्य ज्ञानरूपी रत्नमयरूपी पर्वत से च्युत हो जाते हैं। जिस चित्त में किसी भी बाह्यपदार्थ के प्रति राग बसा है ऐसा राग बसे हुए चित्त में आत्मा की बात नहीं समा सकती। जिस मन में रागादिक भाव रहते हैं उस मन में आत्मा की बात समा नहीं सकती। क्योंकि यह आत्मा एक उपयोग रूप है और जिस उपयोग में रागद्वेषमोह का विकार समाया हुआ हो उस चित्त में आत्मतत्त्व की बात नहीं आ सकती। यद्यपि संसार के प्राणी मात्र रागद्वेषमोह से दुःखी हैं। दुःख का और कोई दूसरा कारण नहीं, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप में न्यारा-न्यारा बसा है। प्रत्येक जीव अपने आपके प्रदेश के अधिकारी हैं। कोई किसी का स्वामी नहीं है, कोई किसी को न सुखी कर सकता, न दुःख कर सकता, न पापी बना सकता, न धर्मात्मा बना सकता। सबका अपना-अपना स्वरूप न्यारा है। पर अनन्तानन्त जीवों में से एक दो जीवों को समझ लिया कि यह मेरे हैं, बस उनके लिए जी जान सब एक कर देते हैं। जो लोग तन-मन-धन-वचन हैं वे सब इन्हीं दो चार प्राणियों के लिए हैं और उनके अतिरिक्त संसार के सारे

प्राणियों को गैर मानते हैं। जिन्हें आज गैर मानते हैं वे ही जीव मर कर घर में आ जाये तो उनसे ही मोह करने लगेंगे। मोह करने की आदत है। तो एक विचारने की बात है, बनना तो जो है सो बनेगा। पर सच्चा ज्ञान आ जाय तो उसमें ही बड़ा चमत्कार बसा है, राग बनता है, ठीक है, घर में पड़ता है ठीक है, जो कुछ भी बीतती है, कषायों आती हैं, करते हैं ठीक है करना पड़ रहा है फिर भी यदि सही ज्ञान चित्त में बसा रहे तो उसकी बहुत सी बाधाओं में अन्तर आ जाता है। तो प्राणी एक अज्ञान में दुःखी है। राग भी हमारा दुःखदायी नहीं है जितना कि अज्ञान दुःखदायी है। एक बार 10 जुलाहा किसी बाजार में कपड़ा बेचने गए, बीच में पड़ती थी नदी। चले गए बाजार में। अब कपड़ा बेचकर घर में वापिस आने लगे तो जब नदी से निकले तो उस समय किसी ने कहा कि अपन 10 मित्र थे। जरा गिन तो ले कि 10 ही हैं या नहीं। जब गिनने बैठे तो जो गिनने वाला है उसने जो निगाह डाली तो उसे 9 मित्र दिखे। तो वह बोलता है कि भाई अपना एक मित्र तो कहीं गायब हो गया। उसका कुछ पता नहीं है कि कहाँ गया, क्या हुआ? जब दूसरे ने गिना तो उसे भी 9 ही मित्र दिखे। उसने भी अपने को न गिना। यों ही दसों ने गिन डाला, पर 9 ही मित्र निकले। अब वे दसों मित्र रोते हैं, माथा धुनते हैं कि हाय !क्या करें? गये तो थे दो चार रुपये के लाभ के लिए और अपना एक मित्र खो दिया। तो भला बतलावो वहाँ दुःख किस बात का है? वह दुःख है एक अज्ञान का, भ्रम का। हम 10 मित्र थे प्रथम तो यह अज्ञान बसा है और फिर उनमें से एक गायब हो गयादूसरा यह अज्ञान बसा है। वे केवल अज्ञान से दुःखी हो रहे हैं। इतने में कोईघुड़सवार वहाँ से निकला और इन सबको रोता हुआ, माथा धुनता हुआ देखा। पूछा भाई क्यों रो रहे हो? उन्होंने अपनी कहानी सुनाई। हम 10 मित्र थे। गए तो थे दो चार रुपये के लाभ के लिए पर अपना एक मित्र कहीं खो आये। उसने एक सरसरी निगाह में देखा तो 10 के 10 ही दिख गए। सो उसने कहा अच्छा अगर हम तुम्हारा 10 वां मित्र बता दें तो?...कहा— अगर हमारा 10 वां मित्र तुम बता दोगे तो हम तुम्हारा जिन्दगी भर बहुत ऐहसान मानेंगे। जीवन भर आपके आभारी रहेंगे। तो उस घुड़सवारने उन दसों को एक लाइन से खड़ा किया और गिनता जाय— एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ और जोर से बेंत मारकर कहे यह दस। यों ही उन दसों को गिन-गिनकर बताया जाय और दसवें को कुछ जोर से बेंत मारकर कहे कि यह दसवां तू ही तो है। तो जैसे अज्ञान से वे दुःखी हो रहे थेऐसे ही सारा क्लेश अज्ञान का है।

वैभव की विपत्तिरूपता:— ये तन, मन, धन कुछ भी साथ नहीं जाते। यह आत्मा ज्ञानरूप है, ज्ञानस्वरूप को ही लेकर जायगा। अब उसमें अज्ञान बसे, भ्रम रहे तो बस इतना ही दुःख है। तो जिस चित्त में भ्रम बसा हुआ है, रागादिक भाव बसे हुए हैं वह आत्मतत्त्व से विमुख रहता है। इसी कारण मनुष्य ज्ञानरूप रत्नमय पर्वत से च्युत हो जाता है, ज्ञान से गिर जाता है। रागभाव विशेष आ जाय और उसका नियंत्रण न कर सकें, काबू से दूर हो जायें तो वह ज्ञानपर्वत से भी गिर जाता है। राग ही दुःख देता है। जितना मौज में लोग रहते

हैं, मेरे घर में सब कुछ है, परिवार अच्छा है, कुटुम्ब है। ऐसी जो अपनी जिन्दगी गुजार रहे हैं वे विपत्ति में हैं। प्रथम तो संयोग के काल में भी कोई लड़का कुछ कहना न मानता हो, आज्ञा न मानता हो, ऐसा जो बालक मौज में रह रहा है उसको वियोग के समय बहुत क्लेश होगा। इस कारण ज्ञानी गृहस्थ का कर्तव्य है कि संयोग के समय में भी ऐसा मानता रहे कि जितना भी ये संयोग हैं समागम हैं उनका अवश्य वियोग होगा। जिसका वियोग हो जाय उसका फिर संयोग हो या न हो कोई नियम नहीं है, पर जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग जरूर होगा। यह पक्का नियम है। तो जो तत्त्वज्ञानी की दृष्टि रखे उसे क्लेश नहीं होता। यह सारा जगजाल मायारूप है, भिन्न है, सार का हित आत्मा नाम नहीं है किन्तु उन पदार्थों में जब रागमोह चलता है तो यह प्राणी व्यर्थ दुःखी होता है और चाहने लगता है कि यह मनुष्य कि लोक में मेरी इज्जत तो हो। पोजीशन तो हो, मैं सबमें अधिक धनी कहलाऊँ, ऐसी स्थिति चाहते हैं। लेकिन किन लोगों में बड़ा कहलवाना चाहते हैं? ये सब दुःखी जीव हैं, कर्मों के प्रेरे हैं, जन्म मरण के चक्र में लगे हुए हैं, विनाशीक हैं। ये सब मर मिटेंगे, जिनमें हम कुछ अपनापन रखना चाहते हैं। देखिये जिनमें अपना बड़प्पन बताना चाहते वे तो गुजर जायेंगे और व्यर्थ ही इस अज्ञान के भाव करने में जो पाप लगा है उसका दुःख भोगना पड़ेगा।

श्लोक-1115

रागद्वेषभ्रमाभावे मुक्तिमार्गे स्थिरीभवेत्।

संयमी जन्मकान्तारसंक्रमक्लेशशङ्कितः॥1115॥

राग, द्वेष, भ्रम का अभाव होने पर मुक्तिमार्ग में स्थिरता:— इस संसाररूपी वन में भ्रमण के क्लेशों से भयभीत हुए संयमी मुनीश्वर रागद्वेष मोह के अभाव से ही मोक्षमार्ग में स्थिर हैं। सबकी एक ही पद्धति है, जो राग करेगा सो दुःखी होगा। जो राग छोड़ेगा वह सुखी होगा। सुखी होने की भी बात क्या, आत्मा तो स्वयं आनन्दस्वरूप है। जैसे हम इन चौकी तखत वगैरह को देखते हैं ना तो इनका स्वरूप कौन समझता है? क्या स्वरूप है? जैसे यह पिण्ड है, कड़ा है, रूप आदिक है, यह तो इसका स्वरूप है। और जरा आत्मा के स्वरूप की बात सोचिये। मेरे आत्मा का स्वरूप क्या है? इस आत्मा में काला, नीला, पीला आदिक कोई रूप भी है क्या? रूप नहीं है, खट्टा, मीठा आदिक इसमें कोई रस भी नहीं है। इसी प्रकार गंध और स्पर्श भी नहीं है। फिर है क्या आत्मा? आत्मा है ज्ञान और आनन्द। अमूर्त चीज है आत्मा। केवल ज्ञान और आनन्द इसमें विदित होगा। जो अपने आपमें मैं सुखी हूँ मैं शान्त हूँ अथवा दुःखी हूँ भी अनुभव करता हो वही तो आत्मा है। आनन्द का जब विपरीत परिणमन होता है तो वह दुःख है, क्लेश है और जब विशुद्ध

स्वभाविक परिणमन होता है तो उसका नाम सुख है, आनन्द है। तो आत्मा में ज्ञान और आनन्द ही स्वरूप नजर आयगा। अपने आपको बराबर इस रूप में निहारें, ऐसी भावना भायें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, मैं स्वयं ज्ञानमात्र हूँ, स्वयं आनन्दस्वरूप हूँ, मैं ज्ञान और आनन्द से स्वतः परिपूर्ण हूँ। मुझे ज्ञान अथवा आनन्द प्रकट करने के लिए कुछ नई चीज नहीं जोड़नी है। केवल ज्ञान और आनन्द का जो विघात हो रहा था रागद्वेष भाव के कारण इन रागद्वेष विकारों को दूर करना है। इतना भर काम है करने का। जैसे कोई कहे कि धर्म करो तो धर्म करो का क्या अर्थ हुआ? इसका अर्थ इतना ही है कि तुम अपने आत्मा का सही ज्ञान कर लो और चूँकि इस आत्मा में अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतएव सबका रागभाव छोड़ दें। यथार्थ ज्ञान करना और रागद्वेष मोह छोड़ना यही धर्म का पालन है। यह बात बने तो समझिये कि धर्म किया। प्रभुभक्ति दर्शन आदिक करके भी यदि रंच भी मोह राग में फर्क नहीं आया तो क्या यह कहा जा सकता है कि उसने धर्म किया? रागद्वेष मोह दूर हो, अपने आत्मा का आनन्द अपने अनुभव में आये तो उसका नाम है धर्मपालन। धर्मपालन किसी पर ऐहसान करने के लिए नहीं किया जाता। मैं धर्म करता हूँ तो मैं समाज पर कुछ ऐहसान रखता हूँ ऐसी बात नहीं है। मैं धर्म करता हूँ तो अपने लिए, अपनी शान्ति के लिए। मेरा प्रभाव मुझमें ही होगा। धर्मपालन जो करे सो शान्ति का मार्ग पाता है। तो जो मुनीश्वर रागादिक भाव से दूर होते हैंवे ही मोक्षमार्ग में स्थिरता से रहते हैं। रागद्वेष मोह के दूर किए बिना मुक्ति का मार्ग नहीं मिलता। जरा रागद्वेष मोह हो रहे हैं तो खूब करें, कमी न रखें, पर अन्त में मिलेगा क्या? केवल कष्ट। सब अनुभव करके देख लो। प्रभु का मार्ग पाया, जैन शासन पाया तो कुछ तो ऐसा विचार करना चाहिए कि सामायिक में, दर्शन में कि हे प्रभो ! मैं मोह राग द्वेष भावों से ही दुःखी हूँ, मुझे दुःखी करने वाला अन्य कोई नहीं है। मेरा यह मोह राग कैसे छूटे? उस ही उपाय में मेरी भलाई है और अन्य कुछ भी सार की बात इस जगत में नहीं है ऐसा विचार तो आना चाहिये, यह सब अपनी भलाई के लिए है, ऐसा ही जो करते हैं उनके गुरुराज कहो, मुनिराज कहो, साधु कहो, वे सब आत्मा की साधना कर लेते हैं और सदा के लिए संकटों से मुक्त हो जाते हैं।

श्लोक-1116

रागादिभिरविश्रान्तं वञ्च्यमानं मुहुर्मनः।

न पश्यति परं ज्योतिः पुण्यपापेन्धनानलम्॥1116॥

रागादिक से ठगाये गये मन का अन्धत्व:— यह मन रागादिक से निरन्तर वञ्चित हुआ पुण्य पाप रूपी ईधन का अग्नि के समान ऐसी परमज्योति का अवलोकन नहीं कर सकते। आत्मा के ज्ञानस्वरूप का अवलोकन कोई कर ले तो पुण्य पाप ईधन की तरह भस्म हो जाते हैं। एक अपने आपके स्वरूप की सम्हाल में सारे संकट दूर हो जाते हैं। कभी भी कोई विपदा आ रही हो, चिन्ता सताती हो उस समय एक अपनी स्वरूपदृष्टि करने का ही प्रयत्न बनायें फिर कहाँ है क्लेश? मान लो एक ख्याल बन गया अमुक चीज में कोई तीस हजार का मुनाफा हुआ, थी किसी भाव की कोई चीज और उसका भाव बढ़कर कुछ और हो गया, लो खुश हो रहे हैं, और अगर भाव गिर गया तो ख्याल बनाकर उसमें हानि समझकर दुःखी हो जाते हैं। लेकिन तत्त्वज्ञान से सोचिये तो जरा कि मेरे आत्मा में क्या हानि हुई है? यह तो बाहरी मल है, रहा न रहा, उससे इस आत्मा का क्या सुधार बिगाड़ है? आत्मा का सुधार बिगाड़तो आत्मा के सम्यक्चारित्र और मिथ्याचारित्र से है। बाह्य पदार्थों की हानि से कमी रहने से हमारा कोई बिगाड़ नहीं है। ज्ञान को जरा सम्हाल लें बस सुखी के सुखी हैं। इन रागादिकों से तो अपना सारा नुकसान ही नुकसान है। मोह में ज्यादा नुकसान महसूस होता है। तो जब तत्त्वज्ञान के विपरीत हमारी वृत्ति चलती है तो कितनी ही बाह्य स्थितियाँ हो वहाँ अपने सुख का अनुभव नहीं कर सकते। और सच तो यह है कि अपने आप पर दया आ जाय और कभी किसी क्षण तो यों निरखिये कि मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं है, मेरा तो मात्र मैं ही हूँ। जब देह तक भी मैं नहीं हूँतो अन्य की चर्चा ही क्या करें? मेरा तो मात्र मैं ही हूँ। जब मोह का तीव्र उदय होता है तो मेरा मैं भी नहीं रह पाता। किसे परिचय है कि मैं आत्मा क्या हूँ। शरणभूत तो वास्तव में आत्मा का यह आत्मा ही है। तो जब अपने को अकिञ्चन अनुभव करें, मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं केवल ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ, इस अकिञ्चन भावना में सर्वसंकटों के मेटने की शक्ति बसी है। प्रभु को हम पूजते हैंतो क्या है प्रभु के पास? न धन-सम्पदा है, न घर-बार है, न कुटुम्ब-कबीला है। क्या है प्रभु के पास? समवशरण में विराजमान प्रभु के देख लो। सिद्ध लोक में विराजे प्रभु को देख लो। वे अकिञ्चन हैं, उनके तो देह तक भी नहीं है। उनके ध्यान में ही इतना बड़ा चमत्कार है कि जो प्रभु का निष्कपट ध्यान करते हैं वे सर्व कुछ सम्पदा शान्ति प्राप्त कर लेते हैं।

दृष्टान्तपूर्वक तुङ्ग अकिञ्चन से समृद्धिलाभ की सिद्धि:—पहाड़ अकिञ्चन है। पहाड़ पर न पानी है, न पहाड़ पर कोई समुद्र है फिर भी सारी नदियाँ पहाड़ से ही निकलती हैं। और समुद्र में अथाह पानी भरा होता है लेकिन समुद्र में से कभी कोई नदी नहीं निकलती। समुद्र तो नदियाँ और चाहता है तो समुद्र में जल अथाह भरा है, वहाँ से कोई नदी नहीं निकलती और पर्वत में जल का एक बूंद भी नहीं है फिर भी सारी नदियाँ पर्वत से ही निकलती हैं। तो जो अकिञ्चन हैं प्रभु, उनकी उपासना में जो बात मिल सकती है वह अकिञ्चन श्रीमान आदिक से नहीं मिल सकती। इसलिए अपने आपको अकिञ्चनरूप ही सोचना चाहिए। मेरा मेरे सिवाय कहीं कुछ नहीं है। चित्त में जो बाह्य बातें बसायी जाती हैं वैभव की, दूकान की, नाते रिश्तेदारों

की उनसे यह चित्त बड़ा ओझल बन जाता है। तो किसी भी समय ऐसा भी विचार करें कि मेरा कहीं कुछ है ही नहीं। किस बात पर क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें करूँ और किस प्रयोजन के लिए तृष्णा और लालच बढाऊँ। यहाँ है क्या? मैं तो अकिञ्चन हूँ, केवल ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ। यों अपने को अकिञ्चन निरखियेगा। यह भी एक धर्म है, जिसके प्रताप से परमात्मपद प्राप्त होता है। दशलक्षण धर्म में एक अकिञ्चन धर्म भी है। जो अपने को अकिञ्चन अनुभव करेगा वह उत्कृष्ट पद पायगा। व्यवहार में भी जो अपने को न कुछ बताता है उसकी कितनी बड़ी इज्जत बन जाती है और जो अपने को अपने मुख से कहे तो उसे फिर कुछ इज्जत नहीं मिलती। तो यह प्रभु जो अकिञ्चन हैं उनका अकिञ्चनपना जाहिर होने से उनकी कितनी बड़ी इज्जत है। हम आप भी अपने आत्मा में यदि अकिञ्चन की भावना बनायें तो हम आपको भी परमात्मपद प्राप्त हो जाय इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। तो यह अकिञ्चन की भावना अपने चित्त में भाना चाहिए और किसी क्षण ऐसा अनुभव करें कि मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञान और आनन्द स्वरूप मात्र हूँ, इस तरह का अपना ध्यान बनायें यही धर्मपालन है, यही सर्वसंकटों के मिटाने का सुगम उपाय है। तो अपने को रागादिकरहित केवल ज्ञानस्वरूप अनुभव करने में कुछ समय जरूर बिताना चाहिए। चाहे किसी भी जगह हो। किसी भी समय हो, ऐसा अनुभव करने में ज्ञानप्रकाश मिलेगा और आकुलता भी रहेगी।

श्लोक-1117

रागादिकपङ्कविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि।

परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम्॥1117॥

रागादिकपङ्कविश्लेष से प्रसन्न चित्तवारि में पदार्थपरिस्फुरणः— जैसे जो जल कीचड़ से रहित है तो वह प्रसन्न है अर्थात् निर्मल है। उस प्रसन्न जल से जैसे पदार्थ झलकता है, प्रतिभास होता है इसी प्रकार जब रागद्वेष मोह पंक न रहे तब यह चित्त प्रसन्न रहता है, निर्मल रहता है। चित्त मायने ज्ञान। ज्ञान निर्मल रहता है तो उसमें समस्त वस्तुसमूह प्रतिबिम्बित होते हैं। ज्ञान स्वभाव से जाननशील है, अतएव इस ज्ञान का सारे विश्व के साथ ज्ञेयज्ञायक सम्बंध है अर्थात् सारा विश्व जानन में आ जाय। ज्ञान की यह शैली नहीं है कि सामने पदार्थ हो तब जाने। जैसे कि इस समय हम आपको ऐसा लगता है कि सामने वस्तु हो तब ही तो जानन बनेगा पर यह ज्ञान की शैली नहीं है। यह एक रुकावट और आवरण की परिस्थितियों में बात बनी है। जैसे कोई बहुत बड़ा पुरुष भी किसी विपत्ति में फँस जाय तो उसे भी एक किसी बात पर समझौता करना पड़ता

है निरपराध होकर भी। ऐसे ही ज्ञान का जाननस्वरूप तो ऐसा है कि ज्ञान ज्ञान के कारण सबको जान लेगा, जहाँ भी जो सत् हो। जैसे इन्द्रिय में तो ऐसा लगता है कि सामने वस्तु हो, संसर्ग में आयी हो तो ज्ञान होने पर मन इन्द्रिय से विलक्षण शैली से जानता है, सामने नहीं है नियत भी कुछ नहीं है कि मन किसी विषय को जाने और मन क्षणभर में कहीं की भी जान ले, कितना ही पहिले की जान ले, कितना ही बाद की जाने। क्षोभ रहे यह बात अलग है पर मन में एक शैली है, मन भी एक मलिन विकार है, उससे भी उत्तम शैली होना चाहिये विशुद्ध ज्ञान की। तो ज्ञान में स्वयं ऐसी शैली है कि वह सब सत् को जाने। जब उसमें आवरण होता है तब नहीं होता ज्ञान। जब आवरण मिटा तो ज्ञान में प्रसन्नता जगे। निर्मलता जगे तो वहाँ अनेक वस्तुओं का समूह स्पष्ट रूप से स्फुरायमान होता है।

रागद्वेषमोहपरिहार का शिक्षण:— इस प्रकरण में रागद्वेष मोह भाव को टालने के लिए शिक्षा दी गई है। इन्हें टालो तो तुम भले ही हो, परिपूर्ण तो हो ही। स्वरूप में स्वभाव में निर्मल हो, उत्कृष्ट हो, एक विकार को टाल दें तो वही निर्मलता पूर्ण बन जाती है। और ये विकार व्यर्थ के विकार हैं। कुछ कल्पनाएँ जगी लो विकार बन गए। उन कल्पनावों से सारतत्त्व क्या निकला? उन कल्पनाओं के द्वारा चीज क्या हाथ आयी? चीज हाथ आना तो दूर रहा, खोया ही है सब कुछ। जितना समय गुजरा उतने में रोया ही है, पाया कुछ नहीं। तो ये रागद्वेष मोह हटने के लिए ही हैं ऐसा पूर्ण निर्णय होना चाहिए। ज्ञानी गृहस्थ का ऐसा परिपूर्ण निश्चय रहता है। ये रागद्वेष मोह हटाये ही जाना चाहिए। इनको रखना न चाहिए। कैसा ही राग हो पर राग की एक कड़िका भी इस जीव के लिए हित करने वाली नहीं है। ये परिचय, ये आराम, ये भोग सब क्या है? सब जीव की बरबादी के कारणभूत हैं। जो इन्हें चाहते हैं, उनके ही बीच में रहते हैं सो इन सब बातों के होने से हम भी उन्नति समझते हैं। हमने इतने महल बनवा लिया, ऐसी दूकान बना ली, इतना वैभव संचित कर लिया, इतने राज्यों में लोक में हमारी पहुँच हो गयी, हमारी मान्यता हो गयी। सब लेखा जोखा लगा लो। हो क्या रहा? इस आत्मा में शान्ति क्या मिली? इन सबकी ओर से उत्तर यह होगा कि इतने भी क्या काम करें, सब बेकार हैं। देखिये किए बिना गुजारा भी नहीं है गृहस्थी में और उदासी उनमें रखे बिना कल्याण नहीं है। ऐसी स्थिति है। कोई गृहस्थ हो ऐसा तो बतावो कि ऐसी उपेक्षा रखता हो कि न घर में किवाड़ रखे, न साँकर रखे, न व्यवस्था बनाये, न दूकान करे, न कमाये। बस हमारा तो भगवान शरण है खूब ध्यान में लगे, न व्यवस्था बनाये न घर की सोचे। है क्या कोई गृहस्थ ऐसा? गृहस्थी में ऐसा नहीं बनता। काम वे ही करता पर एक भीतर के उजेले का सब फर्क है, इसी कारण तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि गृहस्थ की बाहरी बातें सब एक सी मालूम पड़ती हैं, पर भीतरी प्रकाश का अन्तर है। एक को शान्ति के मार्ग का पता ही नहीं है, आत्मा के स्वरूप का भान ही नहीं है, विपत्ति आने पर घबड़ायेगा, और एक ऐसा ज्ञानी है कि जिसे शान्ति के मार्ग का पता है और यह भी जान रहा है कि हम जो काम कर रहे हैं

वे अशान्ति के काम हैं, मेरे करने के काम नहीं हैं। उसे आत्मा का भान है यह स्वरूप है तभी वह विपत्ति के आने पर घबड़ाता नहीं क्योंकि उसका जो परमशरण है निजधाम वह उसको मिल चुका है, उसे विह्वलता नहीं होती। कुछ भी बनो। तो जब रागद्वेष मोह का पंक अलग हो जाता तो यह ज्ञान अथवा चित्त इतना प्रसन्न होता कि इस निर्मल चित्तरूपी जल में समस्त वस्तुओं का समूह स्पष्ट स्फुरायमान होता है। यह ही ध्यान का फल है। ध्यान उत्तम बनने से क्या-क्या बातें आती हैं वही बात इसमें कही गई है।

श्लोक-1118

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते।

येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते॥1118॥

वीतराग पुरुष के उत्पन्न हुए परमानन्द के समक्ष लोकत्रयैश्वर्य की तृणवत् तुच्छता:—जो वीतराग होता है, रागद्वेष मोह से उपेक्षा रखता है उस पुरुष के ऐसा कोई परम आनन्द प्रकट होता है कि जिसके द्वारा तीन लोक का भी ऐश्वर्य जो कि अचिन्त्य भी है, महान् भी है ऋण के समान हो जाता है। जिसे जो चीज न चाहिए उसके लिए तो वह तृणवत् है। बड़े छोटे बालक को ये महल, मकान, ऐश्वर्य, वैभव क्या हैं कुछ नहीं हैं। तृणवत् हैं, उसकी चाह ही नहीं है, ऐसे ही किसी ज्ञानी योगी पुरुष को ये समस्त वैभव क्या हैं? तृणवत् हैं। और गृहस्थ को भी प्रतीति में तृणवत् लग रहा है। उस वैभव की सम्हाल कर रहा है इतने पर भी उसकी दृष्टि में सारे लोक का ऐश्वर्य तृणवत् है। जैसे कोई पुरुष मर रहा हो, शरीर छोड़कर जा रहा हो और उससे कहें कि लो यह 10-20 तोला सोना की सांकल पहिन लो तो उसे वह सांकल सुहाती है क्या? जिसे फाँसी काहुक्म दिया जाय उसे कोई पूछे कि तुम्हें क्या खाना है? जो खावोगे वह खिलायेंगे। लड्डू, पेड़ा, रसगुल्ले जो चाहो सो बतावो। तो उसका दिल इस बात को सुनकर खुश होता है क्या? उसे तो कुछ नहीं सुहाता। ऐसे ही जिसे पता हो कि मेरे आत्मा की तो यह गति हो रही है संसार में। अभी मनुष्य है, समय आयगा तो कहीं के कहीं चले जायेंगे, यहाँ कोई किसी का नहीं है, सब उसे झंझट मालूम पड़ रहा है। तो उसे ये सारे वैभव तृण की तरह लग रहे हैं। तो जिसका राग बीत गया है ऐसे प्राणी को कोई ऐसा अलौकिक परम आनन्द प्राप्त होता है कि जिससे तीन लोक का भी महान ऐश्वर्य तृण के समान लगता है। एक जीर्ण शीर्ण तिनका कोई कोट या कमीज में लगा है तो क्या कोई उसे लगा रहने देता है? उसे तो वह झट फेंक देता है। तत्त्वज्ञानी के चित्त में उसकी कुछ कदर नहीं है। इस वैभव की कदर से मेरे को क्या मिलेगा? न मेरे को

आनन्द मिलेगा, न गुणविकास होगा, न पवित्रता होगी, न जन्ममरण की विपत्ति टलेगी। कुछ भी तो नहीं है। ज्ञानी को यह सारा ऐश्वर्य तृण के समान लगता है। कंचन कांच एक बराबर जिसकी दृष्टि में हैं वह दृष्टि क्या है? सबसे न्यारे अपने आत्मा के आनन्द का अनुभव कर लिया है इसलिए दृष्टि सन्मुख हो गयी है, बदल गयी है, जैसी दृष्टि पहिले थी पर की ओरलगी हुई उससे विरुद्ध हो गयी है, अब उसे कंचन कांच एक समान लग रहे हैं। एक निर्णय यह हो जाय कि दुनिया में हमें अपना नाम करके बड़प्पन करके अपने को कुछ बतला करके क्या करना है? हमें क्या लाभ मिलेगा ये लोग जानते ही नहीं। जैसे किसी आदमी की कोई पूछ न हो और वह जान जानकर तुरैया सी छौके। ऐसी ही सबकी हालत है। कोई किसी को जानता है नहीं, सब एक मायारूप हालत है, पर यह जीव सबमें अपने को आगे करना चाहे, बड़प्पन चाहे, यश चाहे, ये अज्ञान की स्थितियाँ हैं उसी का ही सारा क्लेश है। यह महान अंधकार है। तो बड़प्पन की चाह मिटे तो ये बातें बन सकती हैं जो एक शान्ति चाहने वाले को चाहिए।

श्लोक-1119

प्रशाम्यति विरागस्य दुर्वोधविषमग्रहः।

स एव वर्द्धतेऽजस्रं रागार्तस्येह देहिनाम्॥1119॥

विराग पुरुष के दुर्वोधविषमग्रह का प्रशमनः— जो विराग पुरुष है, जो रागभाव को अपनाता नहीं है वह भी विराग है और जिसका रागभाव उत्पन्न नहीं होता वह भी विराग है। रागभाव होता है आत्मा में और यह ज्ञान अपने ही अन्दर अवस्थित होकर अपनी ही ओर रहे तो यह राग नहीं होता। मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, वह भी विराग है। जैसे कहीं बाहर कोई चीजें रखी हैं और उन्हें अपनाये नहीं तो वह उसकी ईमानदारी है, विवेक की बात है, विरक्त है, ऐसे ही आत्मभूमिका पर कर्म के और विकार के निमित्तनैमित्तिक सम्बंध के कारण रागविकार उत्पन्न हो गया लेकिन यह ज्ञान उस राग को ग्रहण न करे तो वह भी विराग है। बाहर में रहने वाले पदार्थों को ये भिन्न हैं, विनाशीक हैं ऐसा निरखने वाले बहुत हो सकते हैं पर अपनी आत्मभूमिका पर जो विकारभाव आया है, ये भिन्न हैं, पर हैं, न्यारे हैं, मैं इनके अन्दर स्वरक्षित केवल अपने स्वरूप मात्र हूँ, ये बाह्य भाव हैं ऐसा जो जानते हैं वे पुरुष बिरले ही हैं। दूसरे की कषाय देखकर मन में हँस जाना यह बात लोगों को कितनी सुगम लग रही है। कोई पुरुष अभिमान कर रहा, घमंड की बात बगरा रहा उसे सुनकर दूसरे लोग कैसा मन में उपहास करते हैं। कैसा अज्ञान का भूत चढ़ा है? इसी प्रकार अपने में ये कषायें

जगती है और उन पर उपहास कर लेयह ज्ञान। क्या हो गया? निमित्तनैमित्तिक सम्बंध से होता है यह। यह मेरे में नहीं होता। देखिये ज्ञान का और राग का आधार एक ही है किन्तु भेदविज्ञान को ऐसी क्षमता है कि कहने मात्र की बात नहीं कह रहे किन्तु स्पष्ट उसे भिन्न नजर आ रहा। यह राग है मैं ज्ञानरूप हूँ, यह कैसा अपनी ओर मुड़ गया है। यह ज्ञानी उन रागादिकों को अपनाता नहीं है। तो ऐसा जो विरागपुरुष है उसके अज्ञानरूपी विषम गृह शान्त हो जाते हैं। और जब राग से पीड़ित होता है, रूप से अपने को जुदा नहीं समझ पाता, इसी के मायने है राग से पीड़ित होना, राग में आसक्त होना अपने को रागरूप अनुभवना। इस प्रकार जो राग से पीड़ित पुरुष है उसके निरन्तर अज्ञानरूपी विषमगृह बढ़ता रहता है। अपना भविष्य अपने आप पर निर्भर है इतनी विशुद्ध परिणति जगे तो हमारा भविष्य उत्तम है और परभावों को अपनाने रूप ही वृत्ति बने तो संसार में रुलने का ही काम है। धन्य है वह तत्त्वज्ञान, धन्य है वे ज्ञानी पुरुष, साधु हो अथवा गृहस्थ, प्रशंसा तो ज्ञान की है ना। तो बाहरी भेष के इन अनुरागों से कोई फर्क नहीं जँच रहा, वहाँ दृष्टि ही नहीं दे रहा, वह तो उस सम्यक्त्व किरण पर दृष्टि दे रहा है कि जिस सम्यक्त्व के प्रताप से एक ही आधारभूत आत्मा में उत्पन्न हुए रागादिक विकारों से अपने को न्यारा समझ रहा है। उस तत्त्वज्ञान की उपासना में है यह भक्ता। धन्य है वह तत्त्वज्ञान। और एक दृष्टि से अगर निरखो तो जिन्होंने घर बार छोड़ दिया परिग्रह छोड़ दिया ऐसे साधु संत विकार भावों से छुट्टी पाकर अपनी ओरलग गये, उनका जितना आन्तरिक तपश्चरण बन रहा उससे कई गुना आन्तरिक तपश्चरण इस गृहस्थ तत्त्वज्ञानी के बन रहा है कि इतना समागम है पास, ऐसा साधन है, घर में बस रहा है, सब कुछ समस्यायें हैं तिस पर भी समस्त रागादिक विकारों से अपने को न्यारा जानकर अपने आपमें ही तृप्त रहा करता है।

श्लोक-1120

स्वभावजमनातङ्क वीतरागस्य यत्सुखम्।

न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशश्वरैः॥1120॥

वीतराग पुरुष के स्वभावज सुख की महिमा:— कहते हैं कि जो रागद्वेष से रहित पुरुष है उसको जो सुख प्राप्त होता है बड़े-बड़े देवेन्द्रों को भी उस सुख का अनन्तवां भाग भी नहीं मिलता, क्योंकि वीतराग योगीश्वरों का सुख तो स्वभाव से उत्पन्न होता है किन्तु देवेन्द्रों के सुख स्वभाव से उत्पन्न होते नहीं हैं। उसमें अधिक आधीनताएँ हैं। कर्मों का उदय अनुकूल हो तो उन्हें सुख मिले। और वीतराग योगीश्वरों को आनन्द

आतंकरहित है पर विशेश्वरों का सुख आतंक सहित है। इस कारण निर्मल ज्ञान वाले पुरुषों के जो सुख उत्पन्न होता है वह सुख बड़े-बड़े देवेन्द्रों को भी नहीं मिलता।

श्लोक-1121

एतावनादिसंभूतौ रागद्वेषौ महाग्रहौ।
अनन्तदुःखसंतानप्रसूतेः प्रथमाङ्करौ॥1121॥

रागद्वेष महाग्रहों की दुःखसंतानमूलता:— अनादि से उत्पन्न हुए रागद्वेषरूपी महापिशाच बड़े गृह रूप हैं जो अनन्त दुःखों के संताप की उत्पत्ति के लिए प्रथम ही प्रथम अंकुरभूत हैं। अर्थात् जितने दुःख उत्पन्न होते हैं उन दुःखों की परम्परा रागद्वेष से चलती है। रागद्वेष मोहभाव है तब तक परम्परा चलती है। और वैसे भी अनुभव से देख लो कोई रागभाव किया जाय तो उस राग की परम्परा राग बढ़ाता जाता है। राग हे सो दुःख है। राग ही दुःख है क्योंकि रागपरिणाम क्षोभ को उत्पन्न कराता हुआ होता है। तो दुःख की परम्परा रागभाव से बढ़ती है अतएव जिन्हें दुःख अनिष्ट है उनका कर्तव्य हे कि वे रागविकार न करें। राग से चित्त चलित हो जाता है। आत्मध्यान का पात्र नहीं रहता, ऐसे रागभाव को मेटने के लिए जैन शासन में एक तत्त्वज्ञान का उपाय बताया है। ध्यानसाधना में भी प्रमुख साधन का स्थान तत्त्वज्ञान का है। अन्य लोग अनेक साधन वाले पुरुष प्राणायाम, आसन, यम, नियम, प्रत्याहार, धारणा आदिक अनेक रूप करते हैं, पर वे नियामक उपाय नहीं हैं। नियामक उपाय तो राग मेटने के लिए एक तत्त्वज्ञान का ही है।

श्लोक-1122

रागौ बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।
जीवो जिनोपदेशोऽयं समासाद्बन्धमोक्षयोः॥1122॥

बन्ध और मोक्ष के कारणों का संक्षेप में निरूपण:—जैन शासन में बंध और मोक्ष का उपाय संक्षेप में यह बताया है कि जो रागी पुरुष हे वह तो कर्मों से बंधता है और जो वीतराग है वह कर्मों से छूटता है।

और यह एक सारभूत उपदेश है— लाख बात की बात यही एक निश्चय में लेना है कि हमको जितने भी क्लेश होते हैं वे रागभाव से हुआ करते हैं। किसी न किसी परपदार्थ में रागभाव है तब क्लेश है। खूब खोज करें तो क्लेशों का कारण और कुछ दूसरा न मिलेगा। जितना भी बंधन है वह सब राग का बंधन है। कोई गृहस्थ कहता हो कि हम घर से बहुत विकट बंध गए हैं। छोटे-छोटे बालक हैं, उनका बंधन हमें है पर बंधन न बालकों की ओरसे है, न किसी इष्ट की ओरसे है। बन्धन है तो केवल अपने रागभाव का। जितने भी जीव को बन्धन हैं वे उनके स्नेहभाव जगने के कारण हैं। एक गाय का छोटा बच्चा उस बच्चे को कोई गोद में उठाकर आगे चले तो गाय बछड़े के पीछे ही भागती है। गाय को रस्सी से ले जाने की जरूरत नहीं है। उसके बछड़े तो आगे ले जावे कोई तो वह अपने आप चलती जायगी। तो इतनी बड़ी गाय और एक दो दिन का वह बछड़ा, क्या उस बछड़े ने गाय को बाँध लिया? अरे वह गाय स्वयं स्नेहवश उस बछड़े से बंध गयी। ऐसा ही सब जीवों का समाचार है। किसी भी जीव को किसी परपदार्थ ने बाँधा नहीं है। स्वयं स्नेह किया और उस स्नेह के कारण बंध जाता है। जो जीव राग करेगा वह कर्मों को बाँधेगा और जो राग से दूर होगा वह कर्मों से मुक्त हो जायगा। यह ही बन्धन और मोक्ष का एक संक्षिप्त मर्म है। जो शरीर में राग करता है उसको शरीर का बन्धन बराबर मिलता चला जायगा। एक शरीर छोड़ा तो दूसरा शरीर मिलेगा। दो शरीर की परम्परा बराबर बनती चली जायगी और जिसे शरीर से राग नहीं है, शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व में जिसे आत्मप्रतीति है वह शरीर से मुक्त हो जाता है। केवल अपने आपके भावों का ही बन्धन है और अपने आपके भावों से ही मुक्ति है।

श्लोक-1123

तद्विवेच्य ध्रुवं धीर ज्ञानार्कालोकमाश्रय।
विशुष्यति च यं प्राप्य रागकल्लोलमालिनौ॥1123॥

रागविलय के अर्थ ज्ञानसूर्यप्रकाश के आश्रयण का अनुरोध:— हे धीर वीर पुरुष ! ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश का आश्रय कर। इस ही ज्ञानभाव के आश्रय से भव्य पुरुष रागभाव से मुक्त हो जाते हैं। इस आत्मा को कुछ तो चाहिए जिसमें कि यह लगे। जैसा आत्मा का स्वभाव श्रद्धान् है अपने किसी भी तत्त्व में हित का भाव बना जिसे यह श्रद्धान् है और किसी न किसी पदार्थ का ज्ञान करते रहना यह स्वभाव है, इसी तरह आत्मा का यह भी स्वभाव है कि किसी न किसी भाव में लगे रहना। अब यदि इस आत्मा को अपना ज्ञानस्वभाव

दृष्टि में मिलता है तो वह वहाँ लगेगा और अपना ज्ञानस्वभाव अपनी दृष्टि में नहीं रहता है तो वह किसी पर की ओर लगेगा। जैसे श्रद्धान आत्मस्वभाव है, ज्ञान आत्मस्वभाव है इसी प्रकार किसी न किसी भाव में लगना यही हुआ चारित्र्य। यह भी आत्मस्वभाव है। तो जो अज्ञानी पुरुष हैं, रागी पुरुष हैं उन्हें अपने आत्मा का तो परिचय नहीं है अतएव वहाँ नहीं लगते और बाह्य पदार्थों का उन्हें परिचय पड़ा हुआ है तो वे बाह्य पदार्थों में लगा करते हैं। लेकिन जो अपने ज्ञानस्वभाव से परिचित हैं, उनका लगाव ज्ञानस्वभाव से है और इस ही कारण राग की नदी उनकी सूख जाती है, अर्थात् रागभाव नहीं रह पाता। राग मिटा कि सारे संकट मिट गए। सारे संकट क्या हैं? एक रागमात्र ही है। प्रथम तो शरीर में राग किए हुए फिर रहे हैं। इसी का बोझ लादे फिर रहे हैं। बूढ़ा भी शरीर हो गया, इतने पर भी क्या ममता छूटती है? अपने शरीर से तगड़ा रूपवान अनेक मनुष्यों का शरीर है, मगर दूसरे के शरीर में किसी को ममता नहीं जगती है। उसको माने कि यह में हूँ ऐसा भाव होता है क्या? कैसा ही देह हो अब इस ही देह में ममता और आत्मीयता जगा करती है तो प्रथम तो इस शरीर से ही राग है अतएव शरीर के पोषण के लिए शरीर के विषयन्द्रिय साधना के लिए निरन्तर कल्पनायें बनाया करते हैं। करता कुछ नहीं आत्मा। न हाथ पैर हैं, न मूर्ति स्वरूप है, न किसी को परख सकता है और पकड़ा नहीं तो छोड़ेगा भी किसे? यह एक भेद-भाव बना रहता है। उस भाव में यदि वह पराश्रित है तो कर्मों से बंध जाता है और यदि स्वाश्रित भाव है तो कर्मों से छूट जाता है।

श्लोक-1124

चिदचिद्रूपभाषेषु सूक्ष्मस्थूलेष्वपि क्षणम्।

रागः स्यादयदि वा द्वेषः क्व तदध्यात्मनिश्चयः॥1124॥

पदार्थों में रागद्वेष होने पर अध्यात्मनिश्चय का अभाव:— सूक्ष्मअथवा स्थूल चेतन अचेतन पदार्थों में क्षणभर भी राग अथवा द्वेष होता है तो फिर अध्यात्म का निश्चय कहाँ रहा? अपने आपके स्वरूप के सिवाय अन्यत्र यदि राग अथवा द्वेष उत्पन्न हो तो आत्मदृष्टि कहाँ रही? आत्मदर्शन जब है तब किसी भी आत्मा की सुध न हो। किसी भी अनात्मतत्त्व में राग न जाना। यदि किसी में रंच भी राग है तो वहाँ अध्यात्म नहीं है। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि हम मजे से अपने घर में रहते हैं और किराये आदि की आमदनी है। लोग घर दे जाते हैं, न किसी को सताते, न किसी से झूठ बोलते, न चोरी करते, न कुशील परिग्रह सहते। घर में रहते हैं, अपने परिवारजनों में बड़े सुख से प्रेमपूर्वक रहते हैं तो कर्मबन्धन तो न होता होगा और पाप न लगता होगा, कोई ऐसा सोचे कि हम पराधीन न होंगे, हम तो स्वतंत्र हैं तो यह सोचना गलत है। पराधीनता तो उसकी भी

कर्मा की है, विषयसाधनों की है, और वे विषय साधन अनुकूल मिलें, न मिलें, उनकी कल्पनाओं की भी उनको वेदना हुआ करती है। तो पराधीनता भी है और पापभाव भी है। आत्मदर्शन न हो, और आत्मदृष्टि से अन्यत्र कहीं प्रीति का परिणाम पैदा हो वह सब पापभाव है। इन्द्रिय के विषयों के साधनों को रुचि जग रही है वह पापभाव है। आत्मा का जो सत्य आनन्द है वह आनन्द की वहाँ झाँकी नहीं है, केवल क्षोभ ही क्षोभ है। और गलत दुनिया में पहुँच गए हैं, और सही लोक है अपना चैतन्यलोक, ब्रह्मलोक, उसमें स्थित नहीं है तो उसको तो सारा पाप का ही भाव लग रहा है। बन्धन भी है, पाप भी है। जैसे दूसरों का सताना पाप है ऐसे ही अपने आपसे विषयों में आसक्त बनाना भी पाप है। विषयों में आसक्त पुरुष को सम्यग्दर्शन न हो सकेगा और सप्तम नरक के नारकी जो वेदना सह रहा है, दूसरों को भी सता रहा है, उसका सम्यग्दर्शन हो सकेगा। तो अब समझ लीजिए कि विषयों में आसक्त होना कितना महान पाप है? जहाँ मोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी नहीं बन सकता। तो जिस किसी भी पदार्थ में चाहे वह सूक्ष्म अथवा स्थूल हो, राग अथवा द्वेष होता है तो वहाँ अध्यात्म का निश्चय नहीं है।

श्लोक-1125

नित्यानन्मयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम्।
वृणोति वीतसंरंभो वीतरागाः शिवश्रियम्॥1125॥

वीतराग मुनि का शिवश्रीस्वामित्वः—जिसका रागादिक विकल्प नष्ट हो गया है वह वीतराग मुनि ऐसी कल्याणश्री को प्राप्त करता है जहाँनित्य आनन्द है, शुद्ध है, निरन्तर रहने वाला है और आत्मा से उत्पन्न हुआ है अर्थात् मोक्ष का स्वामी होता है मुक्ति क्या है? सबसे हटकर केवल अपने आप स्वरूप में रह जाना इस ही का नाम मुक्ति है। खुद-खुद ही है। खुद-खुद बन गया यही मुक्ति का लाभ है। मुक्ति का निर्माण कहीं किन्हीं जोड़ जोड़कर न होगा। कोई यों सोचे कि बड़े तपश्चरण विधान आदिक कार्यों को करके मुक्ति का हम संचय करने लगे सो मुक्ति तो हटने से प्राप्त होती है, लगने से प्राप्त नहीं होती। मुक्ति में जो स्वरूप प्रकट होता है वह स्वरूप स्वयं ही सहज अपने आपके सत्त्व में होता है, किसी दूसरे पदार्थ के सम्बंध से नहीं होता। जैसे पाषाण में से कोई प्रतिबिम्ब निकाला जाता है तो वह प्रतिबिम्ब किसी पदार्थ को जोड़कर लगाकर नहीं बनाया गया है। प्रतिबिम्ब तो वही का वही बन गया है। वह पाषाण में पहिले भी था अर्थात् वह परमाणु, वह अवभव जो प्रतिबिम्बितरूप में प्रकट हुआ है वह पाषाण में पहिले से ही था। केवल एक चतुर द्रष्टा कारीगर ने उस प्रतिबिम्ब को ढकने वाले जो अगल-बगल के पत्थर हैं उनको हटाया भर है, लो प्रतिबिम्ब निकल

आया। कहीं से बनाया नहीं गया। इसलिए टंकोत्कीर्ण प्रतिबिम्ब का द्रष्टान्त कहा गया है। टंकोत्कीर्ण प्रतिबिम्ब वह निश्चल है और अपने आपसे प्रकट होता है, इसी प्रकार आत्मा का जो स्वरूप है, विकास है वह भी निश्चल है और अपने आपसे उत्पन्न हुई है। जो सिद्ध अवस्था है, वह निश्चल है, चलित नहीं होती, कोई निमित्त नहीं रहा, कोई योग्यता न रही, अब वह सिद्ध बिम्ब आत्म प्रदेश निश्चल है, निष्कम्प है और जो विकास होता है वह भी कभी चलित नहीं होता और अपने आपसे उत्पन्न होता है। किन्हीं बाह्य पदार्थों को छोड़कर वह सिद्ध अवस्था प्रकट नहीं हुई है। हम किस बात को कह रहे हैं? अपने आपमें सोचते जाइये, जो हमारा विरुद्ध रूप हो सकता है उसकी बात कह रहे हैं। सिद्ध की बात कहे तो ऐसा अनुभवना चाहिए कि हम अपनी बात कर रहे हैं। जैसे व्यापार धंधों के अनेक भावी प्रोग्राम खूब खुश हो होकर कहा करते हैं तो यह सिद्ध अवस्था अपने आपके आत्मा काही तो भावी प्रोग्राम है। विकास हो होकर अपने भावी प्रोग्राम की चर्चा कर रहे हैं कि हम किसी दूसरे की क्या कह रहे हैं? वह सिद्ध अवस्था मेरे स्वरूप में ही उत्पन्न हुई है अथवा उत्पन्न हो गयी, वह ज्यों की त्यों उस स्वभाव में सदैव रहती है प्रत्येक जीव में है। अब उपयोग ऐसा बिगड़ गया कि हम उसका लाभ नहीं ले पाते। अतएव वह स्वरूप ढक गया है, पर जब भी हम णमो अरिहंताणं बोलें तो यह अरहंत दूसरे हैं उनको हम नमस्कार करते हैं, ऐसी अत्यन्त भिन्न दृष्टि न रखकर हम अपनी ही बात कर रहे हैं। हमारा ही भावी प्रोग्राम है ऐसी अवस्था प्राप्त करने का और इसी नाते से हम उन्हें नमस्कार कर रहे हैं। अरहंत भगवान हमें कुछ देते तो हैं नहीं। सुख दुःख का देने वाला कोई दूसरा पुरुष तो है नहीं। फिर अरहंत के ध्यान से हमें फायदा क्या मिला? फायदा यह है कि हम अपने आपका भावी प्रोग्राम समझ रहे हैं उस रिश्ते से हम प्रभु को नमस्कार करते हैं। वे हमें कुछ देंगे नहीं पर हम ही ध्यान करके अपने आपको उस रूप भा भाकर खुद प्राप्त कर लेंगे और इसी नाते से हम अरहंत प्रभु का स्मरण करते हैं। जब णमोसिद्धाणं बोलें तो हम कहीं भिन्न सिद्ध को नमस्कार कर रहे हैं ऐसी अत्यन्त विविक्तता की बात न रखें, किन्तु हम अपने भावी प्रोग्राम की सुध ले रहे हैं। वह अवस्था हमें इष्ट है, हितरूप है, सर्वसंकटकारी है और वह सब कुछ मुझमें ही है। हम अपने आपके अंतः छुपे हुए उस मर्म के विकास को अपनी याद में ले रहे हैं।

परमेष्ठिपदों में साध्यसाधनत्व का प्रकाशः—परमात्मपद तो हुआ साध्यरूप, पर साधनरूप हैं आचार्य उपाध्याय साधु। ये भी एक ही बात है। निरारम्भ, निष्परिग्रह, इनका एक ही पद है। केवल थोड़ा एक मोक्षमार्ग के निर्वाह के लिए रागादिक भावों से जो बाधाएँ आती उन्हें दूर करने भर की व्यवस्था है। पर पद तीनों ही एक हैं। सबका ध्येय एक कैवल्य की प्राप्ति है। तो जब हम आइरियाणं, उवज्झायाणं और साहुणं बोलें तो वहाँ केवल एक रूप का अनुभव करना है, भिन्न-भिन्न रूपों का नहीं। वही निर्ग्रन्थ, निष्परिग्रह, निरारम्भ केवल ज्ञानस्वरूप की ही साधना में उत्सुक ऐसे गुरुभाव का हमें स्मरण करना है। वह भी हमारा भावी प्रोग्राम है।

वह सामर्थ्य हमारे प्रकट हो कि हम उस निष्परिग्रह पद को प्राप्त करें जो कि अरिहंत अवस्था का कारण है। न हो इस काल में अरिहंत अवस्था, किन्तु उसका एक सिलसिला और भावों में एक विशुद्धि तो बनेगी। तो जो शाश्वत लक्ष्मी है मुक्ति वह कुछ भिन्न नहीं है। जो उसका सहज स्वरूप है वही मोक्ष अवस्था में प्रकट होता है, उसे वीतराग पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं। राग में तो राग का विषय मिलेगा। विषय भी न मिलेगा, किन्तु राग में तो अपना रागी परिणामन मिलेगा, अन्य कुछ नहीं हाथ आने का। हम अपने को 4-5 मिनट ही बड़े शुद्ध परिणाम से अकिञ्चन आदि अनुभव कर सकें केवल ज्ञानमात्र हूँ ऐसा नाता तोड़ दें उस धर्मपालन की प्रक्रिया में कि मानो कुछ भी हमारा नहीं है। जितना व्यवहार रूप से भी मानते आये हैं, करना पड़ रहा है या गृहस्थों का कर्तव्य है, इस रूप में भी जितनी बात मानते आये उसको भी हटा दें यह दशा एक सामायिक की होती है और उस सामायिक में वह मुनि तुल्य बताया गया है चाहे वह गृहस्थ भी हो। जब आत्मध्यान की स्थिति में समतापरिणाम में वह आ गया तो समझ लीजिए कि उसने एक मोक्ष का जो यथार्थ उपादानभूत है उस प्रभु को पा लिया। समाधि के लक्षण में यह बताया गया है कि सामायिक का वह समय है, या सामायिक का वह विधान है या इतनी देर की सामायिक है कि चोटी की गांठ लगाना मुट्टी का बंधा होना आदिक बताया है। तो उसके हम दो अर्थ ले सकते कि सामायिक की विधि ऐसी है कि कपड़े का बन्धन कर ले याने चदर ठीक बाँध ले, चोटी की गांठ लगा ले, दूसरा यह भाव बन सकता कि चोटी का बंधन करने में जितना समय लगता है उतना खासा सामायिक का समय है। अधिक देर तक समतापरिणाम नहीं ठहरता। लेकिन उस समतापरिणाम में ठहरने के लिए हमें और प्रयोग बहुत काल तक करने पड़ते हैं। हम यदि अपने आपको किसी भी क्षण सारे नाते तोड़कर अकिञ्चन निरखें, केवल ज्ञानस्वरूप में हूँ ऐसा दर्शन करें तो उस आत्मा को ऐसी कल्याणरूप लक्ष्मी का लाभ हो जो सदा रहने वाला है, समीचीन है, स्वाश्रित है, सदैव जिसमें आनन्द बर्तता रहता है। बस हमारा काम है कि ऐसा ज्ञान बनायें कि मोह न जगे और रागद्वेष मिटे। ऐसे ज्ञान में लगते रहना ही हमारा कर्तव्य है।

(नोट:— श्लोक नं.1126, 1127, 1128 व 1129 का एक प्रवचन नोट नहीं हुआ)

श्लोक-1130

अयं मोहवशाज्जन्तुः क्रुद्धयति द्वेषि रज्यति।
अर्थष्वन्यस्वभावेषु तस्मान्मोहो जगज्जयी॥1130॥

सकारण मोह की जगज्जयिता का आख्यान:—यह प्राणी मोह के वश होकर अन्य पदार्थों में क्रोध करता है, द्वेष करता है और राग करता है, इस कारण यह समझ लीजिए यह मोह इन तीन लोकों को जीतने वाला है। इस मोह का ऐसा प्रसार है कि जंतुओं पर कि जो एकेन्द्रिय जीव भी हैं जिनके सम्बंध में हम आप कुछ कल्पना नहीं कर सकते कि वे क्या विकल्प करते हैं किस तरह उनके अन्तरङ्ग में भावना बनी रहती है। वे देखने में लगता है कि पड़े हैं, खड़े हैं उन स्थावरों में भी मोह है और संज्ञा द्वारा पर्यायबुद्धिता उसमें बर्त रही है। जो उन्हें पर्याय प्राप्त हुई है उसमें ही अहं का अनुभवन करते रहते हैं। अब जितना उनका विकास है उस शैली से वे अनुभवन करते हैं, पर पर्यायबुद्धि से ग्रस्त वे भी हैं। यद्यपि एक इन्द्रिय जीवों के मोह का वैसा प्रसार नहीं बन पाता जैसा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के बनता है और इसका प्रमाण भी यह है कि एक इन्द्रिय जीवों के मोहनीय कर्म का स्थितिबंध कम होता है। और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मोहकर्म का स्थितिबंध अधिक होता है लेकिन एकेन्द्रिय की अवस्था पतित है और जो जितने कम विकार में भी कमजोर है पर उसका विकार इस ढंग का कमजोर है कि उसके विरुद्ध अर्थात् कुछ उन्नति के लिए कुछ काम में भी नहीं कर सकते, इस ढंग का मोह है। वे अपने आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाओं में डूबे हुए हैं, उनकी संज्ञा उनके भावों के अनुकूल है, पर मोह का प्रसार उन एकेन्द्रिय में भी है। अब दो इन्द्रिय जीव से तो कुछ समझ में आ सकती है बात कि इसमें मोह है। ये लट, केचुवे, जोक, शंख वगैरह चलते रहते हैं, खाते रहते हैं और कुछ इनका काम नहीं है। आसक्ति उनकी इन्द्रिय विषयों की बनी रहती है और कुछ पता नहीं, मन ही नहीं है, हित अहित का विवेक नहीं कर सकते। मन होने से मनुष्य हित अहित के विवेक में समर्थ हो जाते हैंमन का ऐसा प्रभाव है वह मन भी अपने भाव मन योग्यता रूप, पर मन न होने से विकल्प न हो, वासना न हो ऐसी बात नहीं बनती। यह जीवों के चार संज्ञाओं के प्रभाव से वह अपने आपमें संक्लिष्ट दुःखी और मुग्ध बने रहते हैं। जो पर्याय मिली है उसी को आपारूप अनुभव कर रहे हैं ऐसे ही तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में मोह का प्रसार बना हुआ है। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में तो कलात्मक ढंग से भी मोह का प्रसार चलने लगता है और वह खूब समझ में आता है पर मोह नाम प्रीति का नहीं है। दो पदार्थों में, विविध पदार्थों में उनकी स्वतंत्रता का भान नहोकर यह इसका अधिकारी है, मैं इसका अधिकारी हूँ, मैं इसे यों कर सकता, यों कर दूँगा आदिक एक दूसरे की परिणति कर देने का भान होना यह है मोह की बात। जो भिन्न-भिन्न पदार्थ है शरीर और आत्मा उनमें भेद न जान सकना, भेद न अनुभव सकना, शरीर से न्यारा जैसा स्वयं है ज्ञानस्वरूप उस रूप अपने आपको न समझ पाना, भान भी न होना यह है मोह का स्वरूप, मोह का प्रसार। तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में तो नानारूपों में प्रसार मिलता है जो मन हित अहित का विवेक करके हित कार्य में लगने के लिए था उस मन को इन चार संज्ञाओं के प्रबल बनाने में जुटा दिया है। मन न होता तो भी चार संज्ञाओं से पीड़ित यह प्राणी रहता, पर मन होने से उन चार संज्ञाओं में और प्रबलता आ सकी है। तो जगत के सभी प्राणी इस मोह की लीलाओं से ग्रस्त हैं अतएव यह मोह सारे विश्व पर

विजय कर रहा है। मोह क्या विजय कर रहा? सभी जीवों में मोह विकार ऐसी तीव्रता से और व्यापकता से चल रहा है, इसी को कहते हैं कि मोह को जगत ने जीत लिया।

तत्त्वज्ञता के विजय का आख्यान:— जिस प्राणी को मोह नहीं रहता और यह पक्का दृढ़ निर्णय रहता कि मेरे कोई दूसरा शरण नहीं है, मेरा कोई जिम्मेदार नहीं, प्रभु नहीं, कर्ता नहीं, अधिकारी नहीं, मालिक नहीं। मेरा जो कुछ है मेरे से ही चलता है ऐसा जिसने अपने चित्त में दृढ़ निर्णय बना लिया है उस पुरुष को अपने आत्महितकी धुन बन जाती है और अन्तरङ्ग में ऐसी प्रेरणा रहती है, ऐसा साहस होता है, ऐसी बुद्धि बननी है कि सिवाय एक आत्मतत्त्व के निकट रहने के, इस ही के परिचय में बने रहने के और कुछ न बँ। कैसी स्थिति है इस तत्त्वज्ञानी की? और कुछ करना नहीं पड़ रहा है, विकल्प ही मच रहे हैं और उन विकल्पों का निमित्त पाकर योग परिस्पंद होना, उसका निमित्त पाकर शरीर की वायु का प्रवर्तन हुआ और उनका निमित्त पाकर आगे चलें, यों सब कुछ करना पड़ रहा है तथापि एक अपने आत्मतत्त्व के ज्ञान ध्यान और उसके समीप बसे रहने के अलावा यह तत्त्वज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता। जैसे किसी मित्र से बहुत-बहुत परेशानी जब सह ली जाती है तब उसका निर्णय बनता है, बस देख लिया। अब मुझे वहाँ रहने की जरूरत नहीं, मेरे को अब कोई आकर्षण नहीं। देख लिया, अब समझाये भी कोई, बहकाये भी कोई तो वह अन्तर से यही आवाज देता है, बस देख लिया क्या होता है समझने से? समझ लिया, परख लिया, ऐसे ही इन बाह्य पदार्थों में लगे रहने से, विकल्प बसाये रहने से जो-जो बरबादियाँहुई वे मैं सब समझ गया। बाह्य पदार्थों की ओर आकर्षण बनाये रहने से जो कुछ मैंने अपने को बरबाद किया उसे मैं खूब ध्यान से समझ गया। अब कोई बहकाये भी अथवा अपने किसी प्रकरण के राग भरे दर्शन देकर हमें विचलित करना चाहे भी तो इस तत्त्वज्ञानी के यह अन्तरङ्ग आवाज होगी बस मैंने देख लिया। अब क्या होता है बहकाने से? समझ गया सब। जो ज्ञानी पुरुष अपने आपको परभावों से, परतत्त्वों से अशरण समझता है उसका कहीं कोई शरण नहीं, उसे आत्महित में प्रीति जगती है और एक आत्महित की ही धुन रही।

मोहजागरण में मूल अपराध का संकेत:— इसे मोह क्यों जगा? मूल में यह अपराध है अथवा इसी का ही नाम मोह है। मोह स्वयं अपराध है, जो अन्य स्वभाव है अर्थात् में चेतन हूँ मेरा चैतन्य से विलक्षण जो स्वभाव है अचेतन पदार्थों का अचेतन धर्म में स्वभाव वाले पदार्थों में, अचेतन में इसने 'यह में हूँ' इस रूप से अनुभव किया अथवा यह मेरा हैइस रूप से अनुभव किया और जो एक ज्ञान की वृत्ति के अतिरिक्त जो कुछ बीतती है, जो विभाव बनते हैं उनके प्रति भी तत्त्वज्ञानी की यह दृष्टि रहती है कि ये सब भी अन्य स्वभाव हैं, मेरे ही सत्त्व के कारण मेरे ही स्वरूप से स्वरसतः ये विभाव नहीं जगे हैं। यद्यपि विभाव परिणमन मेरा ही बन रहा है पर मेरे स्वरस से नहीं बन रहा है यह औपाधिक भाव है। जिसको ज्ञान का सुलझेरा हो गया है वह तो तत्त्व निकालता है, मेरा हित हो। ऐसी वह अपनी वृत्ति बनाता है। उसके लिए कभी उपादान की

मुख्यता से अवगम करना होता है। मेरा परिणमन मेरे से ही उत्पन्न हुआ। इसमें किसी दूसरे का हाथ नहीं है अर्थात् कोई भी दूसरा पदार्थ परिणम कर इस मेरे मोहरूप नहीं बना। उपादान की मुख्यता से केवल अपने आपको ही स्रोत तककर अन्य सब पदार्थों की दृष्टि न रखकर एक ऐसी कैवल्य वर्तना बनाता है कि हो भी विभावपरिणमन तो कब तक होगा, किसके आधार से ठहरेगा, यों लाभ उठा लिया जाता है उपादान दृष्टि करके। तो कोई निमित्त की मुख्यता से भी वर्णन करके सोच करके आत्महित की ही बात निकालता है। ये क्रोधादिक भाव, ये सब अज्ञानमय भाव जड़ उपाधि का निमित्त पाकर हुए हैं, मेरे ये स्वरसतः नहीं उठे अतएव ये मेरे नहीं हैं। निश्चय दृष्टि से तो यह भी बात आयी थी कि ये मेरे परिणमन हैं। अभी ही सही, आगे न होगा पर दृष्टि में आया। और यहाँ यह दिख रहा है कि क्रोधादिक मेरे परिणमन ही नहीं हैं। मेरी चीज ही नहीं हैं यों समझियेगा। मेरा स्वरूप नहीं, मेरी शुद्ध वर्तना नहीं, ये आये हैं, औपाधिक हैं, विभाव हैं, यों सोचकर उन रागादिकों को अपना न मानने की उज्ज्वलता जगाई। जिसे ज्ञान का ठीक प्रकाश मिला है वह तो सर्वदृष्टियों में अपने मूल आश्रय का दर्शन करने की वृत्ति जगती है, पर मोह का ऐसा नाच चल रहा है जगत के जीवों पर कि वे तत्त्व के निकट नहीं आ पाते। उन्हें फुरसत ही नहीं है अपने आपके विकल्पों से। तो मोह का एक ऐसा प्रसार समस्त जीवों पर चल रहा है कि मोह ने मानो सारा जगत ही जीत लिया। अनन्तानन्त जीवों के समक्ष संख्या में आने वाले वहाँ के बिरले सम्यग्दृष्टिजन क्या अनुपात रखते हैं? यों समझ लीजिए न की तरह हैं। लोक में सब कुछ मिलना सुलभ है पर सम्यग्ज्ञान, अपने सहजस्वरूप का अनुभवन, यह ज्ञान सुलभ नहीं है। है सुगम तब भी प्रकट होगा, है स्वाधीन, लेकिन जब मोह के वश चल रहे हैं तो उस स्वरूपानुभव की न सुगमता रही और न स्वाधीनता रही अर्थात् जो बीत रही है उसका ही अनुभवन करते चले जा रहे हैं। यह मोह समस्त जगत पर विजयी बन रहा है, पर तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसे मोह पर भी विजय पा लेते हैं। तो इस नाते से ज्ञानी पुरुष जगतपति कहलाये अथवा नहीं?

मोहपरिवर्जन का अनुरोध— ये मोही प्राणी मोहवश ऐसे दीन बने चले जा रहे हैं कि अन्य स्वभाव वाले पदार्थों में ये आत्मारूप से अनुभवन रखते हैं और इस ही अपराध के कारण यह मोह इन पर हामी बना हुआ है। पत्थर का पनघट रस्सी से घिसने से 5-7 वर्ष में उसमें गड्ढे पड़जाते हैं रस्सी के खींचने की जगताजब अभ्यास से पत्थर पर गड्ढे बन जाते हैं तो हम यदि अपने आत्मस्वरूप का अभ्यास बनाये रहें, सहज अपने आप बिना किसी उपाधि के, बिना अन्य संग के जो वृत्ति बनती है वह है सहजभाव। और जो सहज भाव रूप अपने आपको मान ले तो बस वही है शान्ति का मार्ग, कल्याण का पथ। यह मोह जीता जाय तब आत्मा का ध्यान बनेगा और जब आत्मा का ऐसा विशिष्ट ध्यान बनेगा तो उसको शान्ति का पथ एकदम मिल जायगा। इस मोह को जीतने का इस जिन्दगी में काम पड़ा हुआ है। अगर जल्दी ही कुछ समय में यह मोह जीता जा सका तो फिर रागद्वेष के दूर करने का भी सिलसिला चलने लगेगा। मोक्ष

मिलेगा विशुद्ध ध्यान से, आत्मध्यान से। आत्मध्यान तब बनेगा जब एक आत्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य भावों में पदार्थों में वाञ्छा न जगे। मोह का दूर करना सबसे बड़ा काम अपन सबका पड़ा हुआ है और बातों में तत्त्व क्या रखा है? नामवरी, इज्जत, धन जुड़जाना, ये सब बातें यदि अन्याय करके दगा देकर बना लिया है तो इसका इससे कुछ भला होने का नहीं है, इसका परिणाम अच्छा नहीं निकलने का। इस मोह को जीतने में ही अपना भला है।

श्लोक-1131

रागद्वेषविषोद्यानं मोहवीजं जिनेर्मतम्।

अतः स एव निःशेषदोषसेनानरेश्वरः॥1131॥

मोह की दोषसेनानरेश्वरना का कारणः— रागद्वेष रूपी विष का जो बागहे उस बागको पनपने के लिए उस बागके निर्माण के लिए बीज क्या डाला गया था? बीज के बिना ये वृक्ष उत्पन्न नहीं हो पाते। तो रागद्वेष के विषवृक्ष का जो एक खासा बागबन गया है इस प्राणी की भूमिका में तो उसमें बीज क्या डाला गया था? जिस बीज के रागद्वेष के अंकुर फूटें और रागद्वेष का प्रसार चले वह बीज है मोह का। मोह के बीज से ये अंकुर फूट गए, रागद्वेष का यह विधान बन गया। तो मोह का जो बीज है वह रागद्वेषरूप विष के उद्यान को बनाता है और इसी से यह मोह समस्त देशरूपी सेना का राजा बन गया है। मोह है तो सब दोष उसमें आ जाते हैं। स्व और पर का विवेक नहीं है, पर देह को आपा मान रहे हैं, इस प्रकार का मोह जहाँ है वहाँ विषयों में आसक्ति होगी, क्योंकि जिसमें मोह बने ऐसे शरीर का पोषण अथवा उस शरीर का उस रूप से वर्तन यह विषयों से बन रहा है। तो विषयों की आसक्ति का महादोष लग जायगा। जिसको अपने आपके सहजस्वभाव का भान नहीं ऐसे पुरुष विषयसाधनों में लग रहे हैं ना, तो उनमें विघ्न पद-पद हैं। तो उनमें विघ्न डालने वाले जीवों पर इसे क्रोध उत्पन्न होगा। तो उस क्रोध का भी बीज मोह रहा। जब आत्मस्वरूप का भान नहीं तो जो बाहरी-बाहरी बातें हैं, मान की, धनिक होने की, विश्व में नेतागिरी की उन्हें ही सब कुछ मान लेते हैं। उन्हें मायाचार भी करना पड़ता है, क्रोध भी करना पड़ता है पर तत्त्वज्ञानी पुरुष क्रोध, मान, माया, लोभ इन सभी से दूर है। जहाँ मोह है वहाँ सभी दोष आकर इकट्ठे हो जाते हैं। मोह का साम्राज्य सर्वत्र छाया है, अतः तत्त्वज्ञानी पुरुष इस मोह पर विजय प्राप्त कर समस्त दोषों की सेनाका मालिक बन जाता है। ईर्ष्या होना, दूसरों को विरोधी मानना, बैरी समझना ये सब बातें इस मोहभाव में बन जाती हैं। ये सब रागद्वेष विभाव इस मोह के शासन में पनपते हैं। यह मुग्धभाव दूर हो और आत्मतत्त्व का ध्यान बने, धुन

बने, मुझे अन्य कुछ न चाहिए, केवल मैं अपने स्वरूप का दर्शन बनाये रहूँ यह चाहिए। जिनकी आत्महित के लिए धुन बन जाती है उनका मार्ग, उनकी परिणति, अनुभवन सबसे विलक्षण होता है। अपनी उन्नति के लिए मोहभाव, अज्ञानभाव ये दूर कर देना चाहिए। फँसे रहने में न कोई तत्त्व अभी तक मिला और न आगे मिलेगा। यहाँ किसका विश्वास किया जाय?ये सब भिन्न भाव हैं। इस स्वभाव में यह मैं हूँ यह मेरा है, ऐसा भाव न बने तो वह पवित्र पुरुष है, शीघ्र अपना कल्याण कर सकता है। ध्यान के प्रकरण में ध्यान की साधना के लिए तैयारी करायी जा रही है कि हे आत्मन् ! तू अपने चित्त को, अपने आत्मा को ऐसा पवित्र बना जिससे तू सहज स्वभाव के निकट अधिक देर तक स्थित रह सके और इस ही के प्रताप से संसार के सर्वसंकट मिट जाते हैं। सो वह स्थिति आये कि यहाँ कुछ संकट का विकल्प ही न रहे। इसी उपाय से सर्वसंकटों से यह आत्मा छूट सकता है।

श्लोक-1132

असावेव भवोद्भूत दाववन्धिः शरीरिणाम्।
तथा दृढतरानन्त कर्मबन्धनिबन्धनम्॥1132॥

मोह की अतिशयकर्मबन्धकारणता:— यह मोह ही जीवों के संसार में उत्पन्न हुए जो दाहबन हैं, दावानल है, अतिशय दृढ़ अनन्त कर्मों का कारण है। यह मोह अग्नि है। अग्नि तो बेचारी जलकर ईंधन को समाप्त करके स्वयं शान्त हो जाती है और खुद मर जाती है, पर यह मोह अग्नि खुद नहीं मर पाती। अग्नि का अन्तिम रूप क्या? अग्नि का अन्तिम रूप है बुझ जाना, पर इस मोह में ऐसी बान है कि यह अपने आप कभी नहीं बुझ पाता। अग्नि को बुझाने के लिए जल भी न चाहिए, वह अपने आप बुझ जायगी, उसका आखिरी रूप है यह। वह तो बुझाते इसलिए हैं कि उस वस्तु में प्रीति है। वह मोह पर वस्तु की प्रीति करने से हो जाता है, पर अग्नि में तो यह बान है कि जल जायगी, अपने आप झक मारकर बुझ जायेगी। मोह में यह आदत नहीं है, उसको बुझाने के लिए तत्त्वज्ञान जल चाहिए ही चाहिए। तो यह मोह तीव्र दावानल के समान है और यह अनन्त कर्मबन्ध का कारण है, यही मोह है, बेहोशी है, आत्मा का परिचय ही नहीं। शान्ति किसे कहते हैं, उसका पथ क्या है? मोह में जिसकी ज्ञानरूपी आग तंद्रित हो गयी है उसके एक तो अनन्त कर्मों का बन्धन तुरन्त है ही। तो हम और आपको ये रागद्वेष मोह ही सता रहे हैं उनका ही दुःख है। न किसी का कोई घर है, न किसी का वैभव है। यह देह तक तो है नहीं किसी का। आत्मा सबसे न्यारा है। कष्ट है तो इसमें मोह रागद्वेष की कल्पनाओं का है। सो यह निश्चय होना चाहिए कि ये मोह रागद्वेष मिटाये जाना ही चाहिए।

दूसरा कोई शरण नहीं है, यह बिल्कुल निश्चित है। गृहस्थ जीवन में रहकर भी परम तृप्ति पा सकते हैं, यही आत्मा की दया है। इस दया को अपने आप पर करना चाहिए, यह ही धर्म का मार्ग है।

श्लोक-1133

रागादिगहने खिन्नं मोहनिद्रावशीकृतम्।

जगन्मिथ्याग्रहाविष्टं जन्मपङ्के निमज्जति॥1133॥

मोहनिद्रावशीकृत लोक का जन्मपङ्क में निमज्जनः—यह संसार अर्थात् संसार के सभी प्राणी रागादिक के गहन वन में तो खेदखिन्न होते हैं। जैसे कोई घने जंगल में फँस जाय, किसी ओर कष्ट भी न मालूम पड़े, दिशा का भी भान न रहे, बड़े-बड़े घने जंगलों में सूर्य तो दिखता नहीं, प्रकाश भी नहीं आता हे तो यह भान भी करना कठिन है कि किस ओर कौनसी दिशा है? तो जैसे इस प्रकार के गहन वन में कोई पंथ भूल जाय तो वह बड़ा खेदखिन्न होता है इसी प्रकार रागादिक का गहन वन है, इसमें ओरछोर की बात नहीं मालूम पड़ती। फँसाव में फँसाव बढ़ता ही जाता है। एक ओरसे स्नेह के वचन निकलें, दूसरी ओर से भी वचन निकलें तो रागादिक का गहन वन जरूर गहन होता चला जाता है। ऐसे रागादिक विकारों के गहन वन में जो खेदखिन्न होता है वह प्राणी जरूर वही मोहरूपी निद्रा के वशीभूत हुआ मिथ्यात्वरूपी पिशाच से ग्रसा गया, ऐसा यह प्राणी जन्मरूपी पंक में डूबता है। जन्म से, संसार से निकल जाना यद्यपि इस जीव के लिए बड़ी सुगम बात है, कष्ट की भी कोई बात नहीं है, लेकिन मोह का ऐसा प्रताप है कि जिनमें कष्ट नाना भरे हैं उनके लिए तो रुचि चलती है और जिनमें कष्ट का नाम नहीं, विशुद्ध आनन्द का ही जहाँ परिहार हे ऐसा यह शिवपथ आत्मशान्ति का मग इसे कष्टदायक प्रतीत होता है। जो मोह रागद्वेष के वशीभूत है वह जन्मरूपी कीचड़ में डूबता है। जो रागवश है वह वशीभूत है, उसे अवश नहीं कहा। अवश नाम उसका है जो विकारों के वश न हो और उस अवश पुरुष का जो कार्य है उसका नाम है आवश्यक। जो रागादिक के वशीभूत है उस पुरुष के आवश्यक काम नहीं हो सकता। आवश्यक शब्द सभी मनुष्यों में आज जोर पकड़ रहा है। आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती। आवश्यक काम आगे पड़ा रहता है, पर यह तो बतावो कि आवश्यक शब्द का अर्थ क्या है? जो काम मुनियों को करना चाहिये उन कामों का नाम है आवश्यक। अवशः कर्म इति आवश्यकं। जो रागादिक विकारों के वश नहीं होता है उस पुरुष का नाम है अवश। और अवश का जो भी कर्तव्य है उसका नाम हे आवश्यक। आवश्यक शब्द का जरूरी अर्थ कहाँसे निकल आया? शब्द में नहीं पड़ा है लेकिन योगी संतों को जरूरी काम था वह आवश्यक, अपने आत्मा के स्वरूप में मग्न होने के लिए जो

कर्तव्य किया जाता था। तो महंत पुरुषों के लिए जो जरूरी काम है उस काम का नाम है यद्यपि आवश्यक लेकिन आवश्य शब्द का अर्थ लगेगा जरूरी चीज। जो रागादिक विकारों के वशीभूत हैं ऐसे प्राणियों के भवभ्रमण ही हुआ करता है। अपने आपको पदपद पर बहुत सम्हालने की आवश्यकता है। होते हों, रागादिक हों, पर ये रागादिक मेरे नहीं, हितरूप नहीं, मेरे लिए कलंक हैं, बरबादी के कारण हैं— इस प्रकार की भावना बनाकर होते हुए भी रागादिक से दूर रहना और अपने आपको ज्ञानमात्र समझकर इस ज्ञानस्वरूप में मग्न होने का पुरुषाश्र करना।

श्लोक-1134

स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यक्षमञ्जसा।

यः स्फोटयति मोहाख्यं पटलं ज्ञानचक्षुषा॥1134॥

मोहपटल के विनष्ट होने पर ज्ञाननेत्र से विश्वदर्शन की सहजता:— जो मुनि मोहरूपी पटल को दूर करता है वह शीघ्र ही समस्त लोक को ज्ञानचक्षु से साक्षात् प्रकट जान लेता है। जैसे सूर्य का तेज प्रकाश मेघ पटल से आच्छादित है, मेघपटल जैसे विघटित है तो सूर्य का प्रताप और प्रकाश सब विस्तृत हो जाते हैं। ऐसे ही आत्मा का यह ज्ञानरवि, ज्ञानज्योति रागादिक विकारों के पटल से आच्छादित है। जैसे ही यह मोह दूर होता है वैसे ही यह ज्ञान पूर्ण प्रकट हो जाता है। मोह दूर होता है पूर्ण रूप से। 10 वें गुणस्थान के अन्त में और उसके बाद फिर 12 वां गुणस्थान होता है। यह अनादिकाल से दबा हुआ इस पूर्ण ज्ञानस्वभाव से मोह का क्षय होने पर भी अन्तर्मुहूर्त तक इसे अवकाश नहीं मिल पाता कि वह लोक को जान ले। राग बैरी नष्ट हो जाता है तिस पर भी अन्तर्मुहूर्त तक केवल ज्ञान नहीं जगता है। 12 वें गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने पर फिर केवल ज्ञान प्रकट होता है। अब समझ लीजिए, इस ज्ञानस्वरूप पर कितना बड़ा आघात अनादिकाल से रहा कि इसके घातक रागादिक दूर हो गए तिस पर भी अन्तर्मुहूर्त तक इसमें वह बल प्रकट नहीं हो पाता। लेकिन रागादिक बैरी दूर हों तो यह ज्ञान समस्त लोक और अलोक को जान ले ऐसे महत्त्व वाला होता है।

श्लोक-1135

इयं मोहमहाज्वाला जगत्त्रयविसर्पिणी।

क्षणादेव क्षयं याति प्लाव्यमाना शमाम्बुभिः॥1135॥

प्रशमजल से मोहज्वाला का त्वरित प्रशमनः— यह मोहरूपी महिती ज्वाला जो तीन लोक में फैली हुई है इसे समता शान्ति रूपी जल से बुझाया जाय, इस पर जल का प्रवाह चल जाय तो यह शीघ्र ही मोहरूपी बिजली को क्षण भर में नष्ट कर देता है। जैसे धधकती हुई आग हो और उस पर पानी का प्रवाह चल जाय तो वह तुरन्त शान्त हो जाता है इसी प्रकार मोह की ज्वाला जो तीन लोक में फैली है, तीन लोक के समस्त वैभव को भी ग्रहण कर ले तिस पर भी जो ज्वाला शान्त नहीं हो पाती ऐसी भी कठिन मोह ज्वाला प्रशमभावरूपी जल से तत्त्वज्ञानरूपी जल से यह क्षण भर में शान्त हो जाती है। यही सुख, शान्ति व आनन्द का उपाय है। ज्ञान को छोड़कर अन्य कुछ है ही नहीं। संसारी जीव जो-जो भी विचार अपनी शान्ति और आनन्द के लिए किया करते हैं उनमें भी जब-जब भी शान्ति कुछ आती है तब-तब भी काय के कारण नहीं, वैभव इकट्ठा हो गया उसके कारण नहीं, किन्तु ज्ञान ही उस जाति का बनता है कि कुछ शान्ति प्राप्त होती है। बड़े-बड़े करोड़पतियों के घर हैं जिनका बहुत बड़ा कारोबार है और फिर भी घर में लड़ाई हो, स्त्री में लड़ाई हो, भाई में लड़ाई हो, मनमोटाव हो। मन न मिले तो इतनी बड़ी सम्पदा होकर भी वे अपने आपको दुःखी ही अनुभव करते हैं, नींद न आये, बेचैन रहें, क्रोध बहुत तेज उमड़े, एक दूसरे के घात पर उतारू हो जायें, जगत में क्या-क्या अघटित बातें नहीं हो जाती। ऐसा भी सोच सकता है कि धन के पीछे बाप भी अपने बेटे को मार दे। जरा कल्पना करना कठिन है। मगर ये भी घटनाएँ हो रही हैं। एक बहुत बड़ा परिवार है मेरठ में, अभी-अभी की बात है कि 15-20 हजार रुपये के धन के पीछे बाप ने बेटे को छुरे से मारा। तो ऐसी-ऐसी अघटित घटनाएँ अब भी हो जाती हैं जो कल्पना में नहीं आती, तो समझ लीजिए कि है क्याजगत में? कौन क्या है? सच तो यह है कि खुद में रागभाव पैदा होता है उससे दूसरे अपने को भले लगते हैं पर इसके लिए भला कोई नहीं है। किसी की ओर से कोई भलाई हमारे लिए हो नहीं सकती। सब अपने-अपने रागभाव की बातें हैं। इसमें बुरा मानने की जरूरत नहीं क्योंकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। कोई किसी को प्रसन्न कर नहीं सकता, कोई किसी का भला बुरा करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। रागभाव जगा और अपने आपमें अपनी ओर से उस राग का जो विषयभूत है उस पदार्थ में प्रीति उत्पन्न हो जाती है। और उस राग के समय दूसरा बड़ा भला जँचने लगा। बड़ा हितकारी है, अनुरागी है। पर कोई किसी पर न अनुराग कर सकता, न सुख दुःख दे सकता, कुछ कर ही नहीं पाता। सब अपनी चेष्टाएँ करते हैं। जैसे कभी बहुत पहिले ऐसे सिनेमा चले थे जो बोलते न थे, आवाज बिल्कुल न थी। पर्दा पर देखो तो कहीं हाथ चल रहे,

कहीं ओंठ हिल रहे, पर वचनव्यवहार न होने से वह कुछ जमता सा न था, और ऐसा ही लगता था जैसे अटपट हो हल्ला हो रहा है। वहाँ कोई किसी का कुछ कर नहीं रहा। सभी लोग अपने-अपने में अपना काम कर रहे हैं।

उदात्तव्यवहार का अनुरोध:— मनुष्यों को वचन एक ऐसे मिले हैं कि इन वचनों के द्वारा अनर्थ और बरबादी भी हो सकती है। और इन ही वचनों के द्वारा अपने आपको विकास में भी ले जा सकते हैं। और उससे ही राग बढ़ना, मोह होना, परिचय होना, पोजीशन का ख्याल होनाये सारी बातें उत्पन्न होती हैं। यह मोहज्वाला बड़ी कठिन है, तीन लोक में फैल रही है। कोई गरीब भिखारी भी हो, वह किसी से पैसा दो पैसा मांग रहा हो तो कोई कहे कि भाई पैसा दो पैसा न मांगो, इतना मांग लो जितने से सन्तोष हो जाय। फिर क्षोभ न मचाना।...तो बाबूजी ने दे दिए 5 रुपये। वह 5 रुपये भी दे दे तो क्या उसे सन्तोष हो जायगा? नहीं होगा। उसकी वाञ्छा और बढ़ जायगी, सौ, हजार, लाख, करोड़ आदि रुपयों की इच्छा हो जायगी। सन्तोष कहाँ मिल पाता है? सन्तोषधन तब तक नहीं आ सकता जब तक यह परिचय न हो कि मेरा आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, इतना ही है, अन्य चेतन अचेतन से इस मेरे का कोई सम्बंध नहीं, ऐसा जब तक अपने आपके हित स्वरूप का परिचय न होतब तक बाह्य पदार्थों से सन्तोष नहीं आ सकता।

श्लोक-1136

यस्मिन् सत्येव संसारी यद्वियोगे शिवो भवेत्।

जीवः स एव पापात्मा मोहमल्लो निवायताम्॥1136॥

मोहमल्ल के निवारण का आदेश:— हे आत्मन् ! जिस मोहमल्ल के होने से यह जीव संसारी है और जिस मोह के वियोग होने से यह जीव मुक्त हो जाता है उस मोह का निवारण करो। परिणमन ही है ना। मेरा परिणमन के सिवाय और क्या धन है, मेरी और क्या चीज है? मैं गुणस्वरूप हूँ और मेरा परिणमन होता है, इससे आगे तो कुछ नहीं। अब जो कुछ करने-हरने, हटने-लगने आदि की बातें हैं वे सब अपने आपमें हैं। किससे हटना, किसमें लगना, किससे निकलना यह सब अपने ही स्वरूप में सोचने की, करने की बात है। बाहर कुछ नहीं होता। तो जब अज्ञानभाव है तब अन्तः यह मोह का प्रसार होता है। यह मल्ल है, विजयी है, इसने अनन्तानन्त जीवों को दबा रक्खा है। बिरला ही कोई विशिष्ट तत्त्वज्ञानी जीव इस मोहमल्ल से बचकर निकल जाता है। बाकी तो सारा ही संसार इस मोह से दबा हुआ है। जिस मोह के सम्बंध से यह जीव संसारी कहलाता और जिस मोह के उपयोग से यह जीव शिवस्वरूप हो जाता। इस जीव का उपकारी

संयोग नहीं किन्तु वियोग है। संयोग से जीव का भला नहीं किन्तु वियोग से जीव का भला है। संयोग से जीव को शान्ति नहीं मिल सकती। किन्तु वियोग से जीव को शान्ति मिलती है। संयोग से जीव को परमात्मपद यही मिल सकता, किन्तु वियोग से परमात्मपद मिलता है। जिसको यावत् जीवसंयोग बना रहता है जिस जीव की ही विशेषता ऐसी है कि संयोग मिटेगा नहीं तो मिटे तो तुरन्त, उसके एवज में अनुकूल संयोग होता, ऐसा जिस भव में संयोग बना रहता है उस भव से मुक्ति नहीं होती। वह भव है देव का भव। और संयोग जब तक है तब तक शान्ति नहीं है। कर्म का संयोग, परिग्रह का संयोग जब तक है इस जीव को शान्ति नहीं मिलती, और वियोग से इसका कल्याण ही कल्याण है। पर वियोग की बात इसे असगुनसी, असुहावनीसी लगती है और संयोग की बात सुहावनीसी और सगुनसी लगती है। किसी पुरुष का मरण काल आया हो और कोई पंडित या त्यागी उसके घर पहुँचकर उसे समाधिमरण सुनाने बैठ जाय तो घर वालों को कितना बुरा लगता है? लो पंडित जी यह विचार कर आये कि यह मरेगा। समाधिमरण जैसी चीज और जो कि हट्टे-कट्टे लोगों को भी पढ़ा जाना चाहिए, और चूँकि आवीचिमरण भी प्रतिक्षण हो रहा है। मरण में निषेक गलते रहते हैं, जिस आयु का मरण हो गया वह फिर वापस नहीं आता। तो सदैव समाधि चाहिए, लेकिन मरण काल भी हो और वहाँ भी कोई त्यागी विद्वान समाधिमरण सुनाने बैठ जाय तो प्रथम तो उस विद्वान की यों हिम्मत ही न होगी कि घर के लोग बुरा मानेंगे। कुछ संकेत पाये तो सुनाये। तो जो वियोग हमारे भले के लिए है उस वियोग की बात भी सुनें तो असगुन समझते हैं। जहाँ और संयोग की बात हो उसे सगुन लगती है तो जिस मोहमल्ल के संयोग होने पर यह प्राणी संसारी बनता है और जिसका वियोग होने पर यह जीव मुक्तस्वरूप हो जाता है उस मोहमल्ल का निवारण कीजिए।

श्लोक-1137

यत्संसारस्य वैचित्र्यं नानात्वं यच्छरौरिणाम्।

यदात्मीयेष्वनात्मास्था तन्मोहस्यैव वल्गितम्॥1137॥

भाववैपरौत्यों की मोहविलासता:— यहाँ जीवों की जो संसार की विचित्रता, नानारूपता और अपने आपके भावों में अनात्मपने की आस्था, आत्मा की सुध न होना, आत्मा के अभाव का ही पोषण करना— ये सब मोह के ही विलास हैं, मोह में ही ये सब चेष्टाएँ होती हैं। देखो किया तो है मूल में अपराध जरा सा और एक प्रकार का, वह क्या? परवस्तु को माना कि यह मैं हूँ। देखो सब जीवों का अपराध जड़ में एक प्रकार काही है ना, इन विडम्बनाओं के, कारणों के-कारणों के आदि में अपराध वह एक प्रकार का है और कितना

भावात्मक? केवल इतना भाव किया कि परपदार्थों को माना कि यह मैं हूँ, पर उसके फल में विचित्रता कितनी हो गयी? कितने तरह के शरीर, कितनी तरह के जन्म, कितनी तरह की अनेक विडम्बनाएँ लग रही हैं, विचित्रताएँ हो रही हैं? ये सब विचित्रताएँ मोह के ही फल हैं। कोई पेड़ है, कीड़ा है, मनुष्य है, पशु है, पक्षी है, कितनी तरह के हैं? अजायब घर में देखने जावो तो विदित होता है कि ऐसे भी जीव होते हैं क्या? हिरण जितना तो जानवर और एक मंजिल ऊँची जिसकी गर्दन हो, ऐसे विचित्र जीव बगुला जितना तो पक्षी और गर्दन हो चार गज की लम्बी। कैसे-कैसे विचित्र शरीरों में ये प्राणी बस रहे हैं? ये सब विडम्बनाएँ मोह के ही तो फल हैं। अपराध तो जड़ में एक भाँति का हुआ और उसमें विचित्रताएँ इतनी भाँति की हो गयी। सो ऐसा मोहमल्ल निवारण करने में ही इस जीव का लाभ है। मोह में अपनी ही बरबादी का साधन बनाते हैं। बहुत-बहुत गुरुजन समझाते हैं कि तिस पर भी हमारी बुद्धि नहीं जगती। न जगे, बरबाद कौन होगा? एक मूल में सम्हाल रहे, ज्ञान सही बना रहे तो इस जीव को बहुत मौके हैं कि अपने आपको संकटों से बचा सकता है। ये रागादिक बैरी सताते हैं उस समय इसके आत्मध्यान नहीं बनता और जब तक आत्मध्यान नहीं है तब तक इसकी मुक्ति का उपाय नहीं प्राप्त हो सकता।

श्लोक-1138

रागादिवैरिणः क्रूरान्मोहभूपेन्द्रपालितान्।

निकृत्य शमशस्त्रेण मोक्षमार्गं निरूपय॥1138॥

प्रशमशस्त्र से रागादिवैरियों का विनाश करके मोक्षमार्ग का अवलोकन करने का सन्देश:—ये रागादिक भाव जीव के बैरी हैं। जीव के शान्ति धन को नष्ट करने वाले ये रागादिक विकार ही इस मोह राजा के द्वारा पाले गए हैं अर्थात् रागादिक विकारों की जड़ मोहभाव है। मोह से पाले गए ये रागादिक वैराग्य से, शान्त भावरूप शस्त्र से छेदन करके हे आत्मन् ! मोक्षमार्ग का अवलोकन कर। यदि शान्ति चाहता है तो ऐसी ज्ञानदृष्टि बना कि ये रागादिक बैरी उद्वण्ड न हो सकें। खूब भली प्रकार से अपने आपमें निगरानी करके परख लो। रागादिक विकारों के ही कारण जीवों को क्लेश है। और इस सम्बंध में विशेष युक्ति क्या देना? अपने आपके ही अन्दर परख लो, यदि किसी भी प्रकार का कष्ट है तो वह किसी विषय में रागविकार होने के कारण है। दूसरी कोई बात ही नहीं है। अब उन रागादिक विकारों को दूसरा कौन दूर करेगा? खुद के ही योग्य भावों के द्वारा ये रागादिक दूर किये जा सकते हैं। इन रागादिकों को दूर करें और मोक्ष मार्ग का अवलोकन करें।

श्लोक-1139

इति मोहवीरवृतं रागादिवरुथिनौसमाकौर्णम्।
सुनिरूप्य भावशुद्धया यतस्व तद्बन्धमोक्षाय॥1139॥

मोहसुभटबन्धन से मुक्ति पाने के प्रयत्न का अनुरोध:— यह सब मोहरूपी सुभट का कृतान्त जो यह परेशानी का जितना भी समाचार है यह मोहरूपी सुभट के पराक्रम का समाचार है। यह मोह सुभट रागादिक सेना से सहित है। इसकी सेना है रागद्वेषादिक परिणाम। तो हे आत्मन् ! भली प्रकार से विचार करके इसके बन्धन से ही छूटने का यत्न कर। लोग मन को वश में करने का यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदिक उपचार करते हैं तथापि उनके मन में रागद्वेष मोह का यथार्थस्वरूप ज्ञात नहीं है और उससे बचने का मार्ग भी विदित नहीं है, अतएव वे बहुत-बहुत श्रम करके भी मन में शान्ति नहीं पाते हैं। रागादिक भावों के जीते बिना मोक्ष के कारणभूत ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। रागद्वेषमोह की व्यर्थता समझ लो। ये रागद्वेष मोह व्यर्थ के परिणाम हैं और जरा सा स्नेह विकार किया, कलंक बनाया उसके फल में ऐसा कर्मबन्धन होता है कि चिरकाल तक वह उस अपराध के बन्धन से छूट न सकेगा। प्रथम तो यह ही समझ लें कि ये रागादिक विकार बैरी हैं, मेरे स्वरूप नहीं है और व्यर्थ ही ये उत्पन्न होते हैं, इनसे लाभ नहीं है। इतना निर्णय तो बसा फिर रागादिक सुगम ही जीत लिए जायेंगे। तत्त्वज्ञान करके जो आत्मा की साधना करते हैं उनके ही विशुद्ध आत्मध्यान जगता है जिसके प्रसाद से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जब मिथ्यात्व कर्म का उदय होता है तब रागद्वेष मोह उत्पन्न होते हैं। जब मिथ्याभाव दूर होता है तो चारित्र के घातक जो रागादिक भाव हैं वे भी दूर हो जाते हैं।

आत्महित के उपाय पर संक्षिप्त प्रकाश:— आत्महित में कर्तव्य यह है कि अपने आपको घिसे। बारबार भावना भावें कि मैं सिवाय भावों के कुछ करता तो हूँ नहीं। बाह्यपदार्थों में मेरी कोई करतूत नहीं। अपने को भावों में सुधार बिगाड़ दिखता है, किन भावों से मेरा बिगाड़ है? कौन से भाव बिल्कुल व्यर्थ हैं? न होते तो क्या नुकसान था मेरा? सबमें स्वरक्षित रहता। ये सब व्यर्थ के परिणाम हैं और ऐसे ही परिणामों में अनन्तकाल खो दिया। और अनन्त काल की बात दूर रहो, इस ही भव की बात सोच लो जो समय गुजर गया है उसही समय की बात परख लो। लगता है ना ऐसा कि जो रागादिक भाव किया, विकल्प किया, कल्पनायें की, मोह बसाया, आसक्त रहे वह सब व्यर्थ ही समय गया। तो ऐसे व्यर्थ अनर्थ रागादिक विकारों से दूर होने के लिए अपने आपको घिसिये, देखिये ये सब विकार भाव मेरे विनाश के ही कारण हैं। मैं उन विकारोंरूप नहीं हूँ। मैं तो विशुद्धसहज ज्ञानस्वभाव हूँ। वही परमात्मतत्त्व है, इसकी दृष्टि बने, इसका आश्रय

मिले तो यह जीव अमीर है। सब कुछ पा लिया उसने। क्या पा लिया? शान्ति और आनन्द का मार्ग। अपने आपका शोधन करना, सबसे न्यारा अपने आपको चैतन्यस्वरूप मात्र निरखना, ऐसी भावना बनाना, ज्ञानदृष्टि में अपने आपको घिसना यही तो काम है, इसके बिना शान्ति का रास्ता मिलता नहीं। एक ही उपाय है। अब जब बने तब करें। जितने दुःखी जन होते हैं उतना दुःखी होने की बात कर लो अथवा विवेक जगाकर अपने को सुखी कर लो। अपने को विकाररहित केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप अनुभव करो कि मैं यह हूँ, इसका किसी से जुड़ाव नहीं, वह किसी के आधीन नहीं। यहाँ कुछ भी ऐसा नहीं है कि मैं अधूरा रहूँ और कभी पूरा बन जाऊँ, आनन्द से ही भरा हूँ, और जब विकृत होता हूँ तो यह पूरा ही तो विकृत हुआ जब यह चेतता है तो पूरा ही चेतता है, ऐसा परिपूर्ण शुद्ध ज्ञान स्वभाव मात्र हूँ तो यह ऐसा अपने आपमें अनुभव करना चाहिए। जैसे अब तक किसी भी इष्ट के चिन्तन में, विचार में, स्नेह में समय खाय़ा ना वह समय खोया और एक आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की भावना बनाया तो वह समय का सदुपयोग किया। कुछ तो समय आत्मविश्राम में अवश्य रहना चाहिए। जैसे लोग थककर हँसी-खुशी के क्लब में जाकर दिल बहलावा करते हैं, थकान मेटते हैं, पर आत्मा की थकान उन उपायों से नहीं मिट पाती और एक आत्मस्वरूप का भान करें, दृष्टि करें और रुचि पूर्वक उस स्वरूप को ही निरखें और इस निरखने के फल में ज्ञानमात्र अपने को परिणमा लें तो शान्ति की अवस्था मिलती है। आत्मविश्राम सत्य यही है। इतना काम करने को 24 घंटे में 10-5 मिनट तो लगाना ही चाहिए। सब महिमा तत्त्वज्ञान की है। सब कुछ सुलभ है दुनिया में। बड़े-बड़े राजपाट भी सुलभ हैं किन्तु एक यथार्थज्ञान दुर्लभ है। जिस ज्ञान की चर्चा में ही बड़े आनन्दरस उमड़ते हैं। वह ज्ञान जब ज्ञानरूप होकर परिणमता है तब उसके आनन्द का कौन वर्णन कर सकता है? मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसी अपने आपमें बारबार भावना करें तो आत्मा की शुद्धि होने लगेगी। यही कल्याण का उपाय है। 10 मिनट तो रखिये आत्मदया के लिए। अपने आपको दुःखी तो किया करीब-करीब 24 घंटे में यह भी पद्धति निरखलो कि जब उपयोग अपने श्रोत में आता है जहाँ से यह उपयोग उठा उसी विशुद्ध धाम में उपयोग मग्न होता है तो सत्य विश्राम वहाँ ही मिलता है। उसका बारबार अभ्यास बने तो आत्मध्यान बनता है और आत्मध्यान से ही मुक्ति का लाभ होता है। अब रागद्वेष के परिहार करने का उपदेश देने वाला परिच्छेद समाप्त हुआ। अब उस साम्यभेद का वर्णन किया जायगा, जिस साम्यभाव से ध्यान की सुगम सिद्धि होती है।